गुरुदत्त

सृष्टि रचना

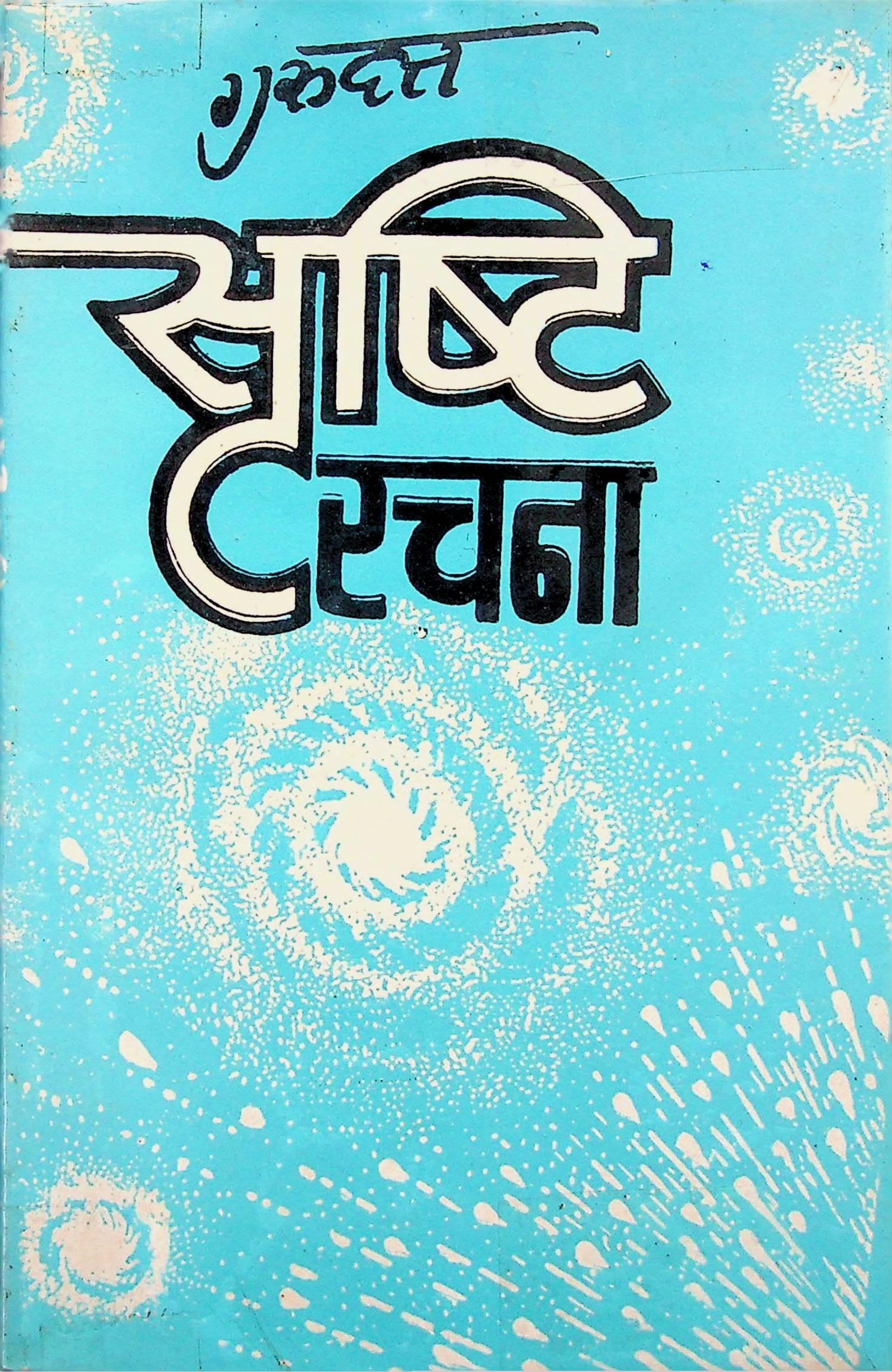

अ 6/222
ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान
सम्पादकीय
विभाग
शान्ति कुंज, हरिद्वार

सृष्टि-रचना

अ6/223

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान
सम्पादकीय
विभाग
शान्ति कुंज, हरिद्वार

सृष्टि-रचना

अ6/223

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान
सम्पादकीय विभाग
शान्तिकुंज, हरिद्वार

लेखक

श्री गुरुदत्त

हिन्दी साहित्य सदन

नई दिल्ली-110001

© प्रकाशक 1977

23553624, 23551344, 9213527666
हिन्दी साहित्य सदन
2, बी डी चैम्बर्स, 10/54, देशबन्धु गुप...
करोल बाग, नई दिल्ली-11000...

मूल्य - अजिल्द संस्करण : 50.00

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सदन
30-पी, कनाट सरकस, नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 3363557, 3340064

प्रथम संस्करण : सन् 1977

पंचम संस्करण : सन् 2000

शब्दांकन : उमेश लेज़र प्रिंट्स, शाहदरा, दिल्ली-110 032

मुद्रक : गोयल एन्टरप्राइज़िस, दिल्ली-32, फोन : 2225770

सृष्टि-रचना

सृष्टि अर्थात् जिसकी रचना हुई है। सृष्टि कहाँ से आई, कैसे हुई, इसकी रचना किसने की? ये प्रश्न आदिकाल से पूछे जाते रहे हैं और वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों ने इस पर खोज करने की चेष्टा की है।

यह कितना अद्भुत है कि जिन तथ्यों पर आज का वैज्ञानिक आधुनिकतम खोज के साधनों से पहुँचा है, उन पर, यही नहीं बल्कि उनसे बहुत आगे भारतीय दार्शनिक अपने युक्ति-बल से तथा चिन्तन एवं मनन से सहस्रों वर्ष पूर्व पहुँच चुका था।

इस पुस्तक में सुप्रसिद्ध लेखक श्री गुरुदत्त ने सृष्टि-रचना पर आधुनिक विज्ञान का मत तथा वैदिक विज्ञान का मत स्पष्ट किया है। पुस्तक अत्यन्त ज्ञानवर्धक है।

हमें आशा है हमारे जिज्ञासु पाठकों का इस पुस्तक से ज्ञानवर्धन होगा।

—प्रकाशक

[illegible]

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान
सम्पादकीय विभाग
शान्ति कुंज, हरिद्वार

अ 6/223

विषय-सूची

भूमिका			9
प्रथम अध्याय	:	सृष्टि (जड़-चेतन—1)	15
द्वितीय अध्याय	:	सृष्टि (जड़-चेतन—2)	20
तृतीय अध्याय	:	सृष्टि में जड़-तत्त्व	27
चतुर्थ अध्याय	:	विशेष-अविशेष	49
पंचम अध्याय	:	अन्तरिक्ष के पदार्थ	55
षष्ठ अध्याय	:	सृष्टि में चेतन जगत् की उत्पत्ति	60
सप्तम अध्याय	:	विकासवाद	70
अष्टम अध्याय	:	पुरुष-प्रकृति-सम्बन्ध	87
नवम अध्याय	:	प्राणी में द्वितीय आत्म-तत्त्व (जीवात्मा)	93
दशम अध्याय	:	प्राणी में सृष्टि के प्रकार—स्थावर और जंगम	96
एकादश अध्याय	:	स्थावरों में जीवात्मा	99
द्वादश अध्याय	:	प्राणी के शरीर में कार्य	102
त्रयोदश अध्याय	:	मनुष्य की उपलब्धियाँ	107
चतुर्दश अध्याय	:	भाषा और ज्ञान के विषय में पाश्चात्य मत	115
उपसंहार	:		121
प्रमाणामनुक्रमणिकाः			136

युगऋषि वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ... ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान
सम्पादकीय
विभाग
शान्तिकुंज, हरिद्वार
अ6/223

भूमिका

सृष्टि-रचना का वर्णन आरम्भ करने से पूर्व, सृष्टि का अर्थ जानना आवश्यक है।

रचना का अर्थ है निर्माण करना। प्रश्न उपस्थित होता है कि किसकी रचना हुई है? क्या निर्माण हुआ है? पुस्तक के नाम से स्पष्ट है कि सृष्टि-रचना का वर्णन लिखा जा रहा है। अतः प्रश्न का अभिप्राय यह है कि सृष्टि के क्या अर्थ हैं? जब सृष्टि के अर्थ स्पष्ट हो जाएँगे तब ही उसकी रचना समझ में आ सकेगी।

सृष्टि का शाब्दिक अर्थ है–जो सृजन किया गया है, जिसका निर्माण हुआ है। अतः सृष्टि-रचना का अर्थ है उस वस्तु के बनने का वृत्तान्त, जो बनी है। इसमें सृष्टि में दिखाई देनेवाले पदार्थ भी हैं और वे पदार्थ भी हैं जो इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते।

इन्द्रियों से दिखाई न देनेवाले पदार्थों के विषय में कहा है–

विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य।।
सौक्ष्म्यात्तादनुपलब्धिः।। –सांख्य. 1-108, 109

अर्थ है–(इन्द्रियों के) विषय भी अविषय हो जाते हैं अति दूरादि से (स्थान के दूर होने से अथवा किसी अन्य कारणवश इन्द्रियों से परोक्ष होने पर) अथवा इन्द्रियों के हीन होने पर अथवा इन्द्रियों के लिए किसी व्यवधान (बीच में अन्य वस्तु के उपस्थित) होने पर।

अति सूक्ष्म होने पर भी विषय का ज्ञान नहीं होता।

इन्द्रियों से न जाने जा सकनेवाले पदार्थ से अभिप्राय वही है, जो सांख्याचार्य का अविषयी वस्तुओं से है।

अतः उन सब पदार्थों की, जो इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं और जो नहीं जाने जा सकते, सब जो बने हैं, उनकी रचना की यह कथा है।

जो कुछ भी हम अपने चारों ओर निर्मित पाते हैं, उसे सामान्य भाषा

में जगत् कहते हैं। ज़गत् का शाब्दिक अर्थ है–जो गतिशील है। यह इन्द्रियों का विषय है। और जो गतिशील नहीं है वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। यह हम सांख्य के उद्धरण से स्पष्ट कर ही चुके हैं कि गतिशील पदार्थ कभी इन्द्रिय गोचर नहीं भी होते। अतएव, वह सब-कुछ जो पहले नहीं था और अब है, वह सृष्टि है और उसकी रचना का ही वृत्तान्त हम लिखना चाहते हैं।

मनुष्य का ही उदाहरण लिया जा सकता है। यह माँ के गर्भाशय में बना है। बनने से पहले यह पिता में एक शुक्राणु और माता में एक डिम्ब के रूप में था। इनके संयोग से ही मनुष्य की रचना आरम्भ होती है। यह रचना भी माँ द्वारा खाए गए अन्न से ही होती है। यदि माँ के गर्भाशय में बच्चे के बनने के समय माँ को अन्न न मिले तो बच्चा पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता। इस पर भी अन्न बच्चा नहीं है। बच्चा तो रक्त-मांस, मेद, मज्जा और अस्थि होता है और ये सब अन्न से भिन्न प्रकार के पदार्थ हैं। इस कारण कहा जाता है कि बच्चा बना है।

परन्तु यह कथा अभी पूर्ण नहीं है, क्योंकि शुक्राणु भी तो बना है और डिम्ब भी बना है। इन दोनों के बनने के स्थान हैं पिता के अण्डकोष और माता की डिम्ब-ग्रन्थियाँ। ये बच्चे के माता-पिता में वैसे ही बने हैं जैसे उनके शरीर के अन्य अंग बने हैं। परन्तु ये अन्य अंगों से भिन्न प्रकार के हैं। ये पूर्ण शरीर का निर्माण कर सकते हैं। दूसरे अंग नहीं कर सकते। अतः मनुष्य के बनने के वृत्तान्त में इनके बनने का भी वृत्तान्त अनिवार्य है।

और प्राणी के अतिरिक्त भी तो पदार्थ हैं। वे भी बने हैं। इनमें सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि हैं। पृथिवी पर भी अनेकानेक पदार्थ हैं। उन सबकी रचना का सैद्धान्तिक वर्णन होना आवश्यक है।

ब्रह्मसूत्रों में एक सूत्र है–

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्।। –ब्र. सू. 1-2-1

अर्थात्–सब स्थान पर जो प्रसिद्ध है, उसके ज्ञान से। सब स्थान से अभिप्राय है पूर्ण दृश्य जगत्। जो कुछ गतिशील है और जिसका ज्ञान हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त कर सकते हैं। यह सब सर्वत्र प्रसिद्ध कहा जा सकता है। इसके उपदेश से अभिप्राय यह है कि उसके ज्ञान प्राप्त होने पर।

प्रश्न है कि जो कुछ हम अपने चारों ओर देखते, सुनते, सूँघते, चखते अथवा स्पर्श करते हैं, उनका ज्ञान प्राप्त करने से क्या होगा?

ब्रह्मसूत्रों में एक अन्य सूत्र है–

जन्माद्यस्य यतः।। –ब्र. सू. 1-1-2

जिससे जन्मादि (जन्म, मरण और पालन) है इसके ज्ञान से (पता चलता है)। क्या पता चलता है? पता चलता है इसके बनानेवाले का, इसके बनने के

प्रयोजन का और जिससे यह बना है, उसका।

इन सूत्रों का अभिप्राय है कि जगत्, जिसमें हमारी पृथिवी और उस पर के सब पदार्थ सम्मिलित हैं, के ज्ञान से हमें पता चलता है, इसके बनानेवाले का, जिसके लिए यह बनी और जिससे यह बनी है, उन सबका।

इस पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि इन्द्रियों से जगत् का ज्ञान हो जाता है तो फिर इस पुस्तक के लिखने का प्रयोजन क्या है? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियों से जो कुछ जाना जाता है यह पूर्ण ज्ञान नहीं है। यह हम पहले सांख्य के कथन (1-108-109) से बता चुके हैं कि कई कारणों से इन्द्रियों के विषय अविषय हो जाते हैं।

इस कारण हम जो कुछ इन्द्रियों से जान पाते हैं उससे अनुमान द्वारा हम शेष बातें जान सकते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि अनुमान भ्रम उत्पन्न करनेवाला भी हो सकता है। परन्तु वैदिक विज्ञान एक विशेष परिस्थिति में अनुमान को भी उतना ही सिद्ध प्रमाण मानता है जितना प्रत्यक्ष को।

वैदिक विज्ञान-शास्त्र में किसी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने के साधन को प्रमाण कहते हैं और ये तीन प्रकार के हैं। इस विषय में सांख्य दर्शन कहता है–

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम्।। –सां. 1-87

अर्थात्–दोनों (प्रकार के कार्यों, परमाणुओं की साम्यावस्था भंग होने तथा प्रकृति में होनेवाले सामान्य परिवर्तनों) का अथवा एक का भी पूर्व अज्ञात अर्थ (रूप अथवा कार्य) का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमा कहाता है। इस (ज्ञान) को जो सिद्ध करता है वह प्रमाण तीन प्रकार का है–प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

फिर कहा है–

तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः।। –सां. 1-88

अर्थात्–इन प्रमाणों से सिद्ध हो जाने पर और अधिक प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती।

शब्द-प्रमाण से अभिप्राय है वेद में कही बात। वेद में कही बात तब ही स्वतः प्रमाण मानी जाती है जब यह सिद्ध हो जाए कि परमात्मा है और वेद उस परमात्मा द्वारा कहे गए हैं; परन्तु यहाँ, जब हम सृष्टि-रचना का वर्णन कर रहे हैं, यही सिद्ध करना चाहते हैं कि सृष्टि की रचना करने वाला परमात्मा है। ऐसा सिद्ध करने के उपरान्त ही परमात्मा की वाणी (वेद) की सिद्धि हो सकती है और फिर उसको प्रमाण-रूप में उपस्थित किया जा सकता है।

अतः अभी (सृष्टि-रचना के वर्णन में) वेद को प्रमाण-रूप में उपस्थित करने

का अवसर नहीं है। अन्य दो प्रकार के प्रमाणों से ही हमें यह सब करना होगा। शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त प्रमाण हैं–(1) प्रत्यक्ष और (2) अनुमान।

जो पदार्थ इन्द्रियों से जाने जाते हैं, उनके विषय में ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। परन्तु पदार्थों के दूर होने के कारण, बीच में व्यवधान (बाधा) होने के कारण, अथवा पदार्थ के अति सूक्ष्म होने आदि के कारण इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं। उस विषय में तब अनुमान-प्रमाण ही सत्य ज्ञान का साधन होता है। इसमें एक युक्ति दी गई है–

अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिः इव वह्नेः।। –सां. 1-60

अर्थ है–आँखों इत्यादि से जो न देखा जा सके, उसका ज्ञान अनुमान-प्रमाण द्वारा हो जाता है, जैसे धूमादि से अग्नि का ज्ञान हो जाता है।

धुएँ से अग्नि का ज्ञान हो जाता है, भले ही अग्नि दिखाई न दे।

कालान्तर से अथवा स्थानान्तर से जब कोई पदार्थ इन्द्रियगोचर न हो सके तो उसका ज्ञान भी अनुमान-प्रमाण से ही होता है।

अतः सृष्टि-रचना का कार्य, काल के विचार से, इन्द्रियों से दूर हो गया है। साथ ही सृष्टि के मूल पदार्थ अति सूक्ष्म (अव्यक्त) होने के कारण इन्द्रियों का विषय नहीं रहे। रचना का बहुत-सा ज्ञान अनुमान का ही विषय है।

सृष्टि-रचना के विषय में खोज तो वर्तमान विज्ञान ने तथा वैदिक विज्ञानवेत्ताओं ने स्थूल जगत् के पदार्थों से ही आरम्भ की है। दोनों विज्ञान ज्ञानप्राप्ति के साधन और उपाय भिन्न-भिन्न प्रयोग करते हैं, इस कारण दोनों की खोज का मार्ग भिन्न-भिन्न हो गया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त में दोनों एक ही स्थान पर पहुँचनेवाले हैं क्योंकि वर्तमान विज्ञान अनुमान को वह मान नहीं देता, जो वैदिक विज्ञान देता है। इस कारण जिस दूरी तक वैदिक-विज्ञान पहुँचता है, वहाँ तक वर्तमान विज्ञान नहीं पहुँच सका। यह इन्द्रियों (Perceptionary Senses) पर ही पूर्णतः निर्भर करता है। इस कारण यह वहीं तक पहुँचा है जहाँ अव्यक्त और व्यक्त की सन्धि होती है। व्यक्त और अव्यक्त की सन्धि कहाँ होती है इसे हम आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं।

उदाहरण के रूप में हम एक लोहे का टुकड़ा ले सकते हैं। इसे बारीक और बारीक पीसते चले जाएँ तो हम लोहे के ऐटम (Atom) तक पहुँच जाएँगे। मशीन से पीसने से तो हम बहुत छोटे-छोटे कणों तक पहुँचते हैं। यह कण भी ऐटम से बहुत बड़ा होता है। इस एक बारीक कण में सहस्रों, कदाचित् इससे भी अधिक ऐटम होंगे। इस कारण इनको और बारीकी तक विभक्त करने के लिए, इसे गन्धक के तेजाब में घोल दिया जाता है। तब लोहे का ऐटम गन्धक के तेजाब के सल्फायन (SO_4) से मिल जाता है और लौह सल्फेट (Iron

Sulphat) के अणु (Molecule) बन जाते हैं। लौह सल्फेट को जब बहुत पतले [illegible] में कर दिया जाता है तो अणु पृथक्-पृथक् हो जाते हैं और इससे लौह-सल्फेट का एक-एक अणु पृथक्-पृथक् किया जा सकता है।

यह ऐटम इन्द्रियों का विषय है। इसको उपकरणों की सहायता से देखा जा सकता है। इस ऐटम में, दूसरे उपकरणों के द्वारा यह पता किया गया है कि यह तीन प्रकार के कणों से बना होता है। ये कण (particles) हैं—इलेक्ट्रोन (electron), प्रोटोन (proton) और न्यूट्रोन (neutron)। इनकी उपस्थिति भी उपकरणों से विदित हो जाती है। परन्तु जब ये कण ऐटम से पृथक् हो स्थिर अवस्था (stationary state) में होते हैं, तब ये दृष्टि से और दृष्टि के सहायक यन्त्रों से ओझल हो जाते हैं। वैसे सृष्टि का मूल (जिसे हम परमाणु कहते हैं) इससे भी सूक्ष्म होता है। यह स्थान, जहाँ इलेक्ट्रोन इत्यादिक गतिविहीन (स्थिर) होते हैं, व्यक्त और अव्यक्त का संगम स्थान है।

इसे हम अपनी इस पुस्तक के मुख्य भाग में बताएँगे। यहाँ इतना बताने से ही अभिप्राय है कि वर्तमान विज्ञान और वैदिक विज्ञान ने खोज आरम्भ की थी स्थूल जगत् से, परन्तु वर्तमान विज्ञान तो इलेक्ट्रोन तक, जब वह गतिविहीन होता है, पहुँचकर रुक गया है और वैदिक विज्ञान इससे भी आगे तक जाता है। यहाँ वह अनुमान-प्रमाण के आश्रय जा सका है। वैदिक विज्ञान मूल प्रकृति के सबसे सूक्ष्म कण, परमाणु तक पहुँच गया है और उनके स्वरूप का अनुमान लगा सका है।

हमने दोनों विज्ञानों से सृष्टि-रचना की खोज (investigation) के परिणामों के वर्णन करने का संकल्प किया है।

इस पुस्तक में हमने वेदों और दर्शन-शास्त्रों से बहुत सहायता ली है। आधुनिक विज्ञान की जानकारी हमने ऐन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (Encyclopaedia Britanica, Ed. 1968) से प्राप्त की है। इसमें हमारे अपने आधारभूत ज्ञान की भी सहायता है।

अन्य ग्रन्थों की भांति इस ग्रन्थ में भी लाहौर के डी. ए. वी. कॉलेज के प्राध्यापक विद्यामूर्ति पण्डित राजारामजी शास्त्री के आत्मज पण्डित शुचिव्रत एम. ए., एम. ओ. एल. की सहायता प्राप्त हुई है। इसके लिए लेखक उनका अत्यन्त आभारी है।

सृष्टि-रचना के ज्ञान से व्यावहारिक लाभ क्या होता है? यह हम अपनी पुस्तक के उपसंहार में बताने का यत्न करेंगे।

2 मार्च, 1977 —गुरुदत्त

18, मार्ग 28, पंजाबी बाग,
नई दिल्ली-110026

शोध संस्थान
सम्पादकीय विभाग
शान्ति कुंज, हरिद्वार
अ6/223

प्रथम अध्याय

सृष्टि (जड़-चेतन–1)

व्यासकृत ब्रह्मसूत्रों में एक सूत्र है जो सृष्टि-रचना-ज्ञान की खोज का आरम्भ कहा जा सकता है। सूत्र इस प्रकार है–

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्।। –1-2-1

इससे अगला सूत्र है–

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च।। –1-2-2

आगे कहा है–

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः।। –1-2-3

प्रथम सूत्र का अर्थ है–सब स्थान पर प्रसिद्ध कहे जाने से।

अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण दृश्य जगत् का वर्णन जानने से अर्थात् जो कुछ हम अपने चारों ओर देखते हैं उससे, हम उसका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, जिससे यह जगत् बना है, जैसे बना है और जिस प्रयोजन से बना है।

दूसरे सूत्र का अर्थ है–(पूर्वोक्त, सबमें प्रसिद्ध) जगत् के अध्ययन से।

तीसरे सूत्र का अर्थ है–कुछ गुण (सर्वत्र) न होने से। सब स्थान पर शरीरी (शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा) नहीं है।

तीनों सूत्रों को एक साथ पढ़ने पर इनका अभिप्राय यह बनता है कि इस जगत् का अध्ययन करने से उसका ज्ञान प्राप्त होता है, जिससे यह जगत् बना है। साथ ही यह भी विदित होता है कि कुछ-एक गुण कुछ पदार्थों में हैं और कुछ पदार्थों में नहीं हैं। कुछ गुणों के स्वामी पदार्थों को हम शरीरी कहते हैं और अन्य एक को हम अशरीरी कहते हैं। अशरीरी पदार्थों को हम जड़ भी कहते हैं।

सामान्य भाषा में हम शरीर रखनेवाले पदार्थों को जीवधारी (living) पदार्थ कहते हैं और जीवनविहीन (lifeless) पदार्थों को अशरीरी कहते हैं। यह भेद हम उनके गुणों में भेद के कारण ही करते हैं।

सृष्टि के अन्वेषण का यह आरम्भ है।

इस चराचर जगत् में दो प्रकार के पदार्थ दिखाई देते हैं—चेतन और जड़। चेतन के अन्तर्गत मनुष्य, जानवर, पक्षी, जलचर, कीट-पतंग इत्यादि अनेक इसी प्रकार के जन्तु आते हैं। जड़ पदार्थों में हम मेज, कुर्सी, मकान, पर्वत, जलवायु इत्यादि गिना सकते हैं।

प्राणवान् और प्राणहीन पदार्थों में अन्तर हम इस प्रकार देखते हैं। प्राणहीन पदार्थों के लक्षण वर्तमान युग का एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन इस प्रकार करता है—

Every particle of matter continues in a state of rest or motion with a constant speed in straight line unless compelled by a force to change that state.

अर्थात्—जड़ पदार्थ का प्रत्येक कण स्थिर रहता है अथवा चलता रहता है सीधी रेखा में और एक स्थिर गति से, जब तक इसके ऊपर किसी दूसरी शक्ति का प्रभाव नहीं होता।

इसी तथ्य को वेदवेत्ता महर्षि व्यास इस प्रकार कहते हैं—

व्यतिरेकानवस्थितेश्च अनपेक्षत्वात्।। —ब्र. सू. 2-2-4

अर्थात्—जड़ पदार्थ अपनी अवस्था नहीं बदलते, जब तक इन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता।

मेज-कुर्सी इत्यादि जब जहाँ रखी जाएँ वे वहीं पड़ी रहती हैं। वे अपना स्थान नहीं बदलतीं। अतः ये अप्राणी (जड़) पदार्थ हैं। परन्तु मनुष्य, घोड़ा, जानवर, पक्षी इत्यादि तो अपनी इच्छा से स्थान बदलते हैं। ये चलते-फिरते, उड़ते इत्यादि अपनी इच्छा से हैं। अतः ये प्राणी (चेतन) हैं।

इनमें यह अन्तर किस कारण है? यह आगे चलकर बताएँगे। यहाँ एक अन्य बात के विषय में बता देना उचित है। वह यह कि मनुष्य, जानवर, घोड़ा इत्यादि और मेज, कुर्सी इत्यादि के अतिरिक्त एक अन्य श्रेणी के पदार्थ भी दिखाई देते हैं। ये पदार्थ हैं वनस्पति इत्यादि। पेड़-पौधे इत्यादि अपने स्थान पर खड़े दिखाई देते हैं। इसी कारण इनको एक तीसरे प्रकार के पदार्थ माना जाता है, परन्तु हम इन्हें भी प्राणी श्रेणी के पदार्थ मानते हैं। इस विषय में आगे चलकर बताएँगे। यहाँ अभी इतना समझ लेना चाहिए कि ये भूमि इत्यादि पर स्थित इस कारण हैं क्योंकि ये अपना भोजन भूमि इत्यादि पर स्थित होकर ही प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य इत्यादि को भोजन ऐसे स्थानों से प्राप्त होता है जो भूमि की भांति स्थिर नहीं हैं। इस पर भी यह प्राणियों की एक श्रेणी-विशेष है।

वर्तमान विज्ञान प्राणियों के लक्षण इस प्रकार करता है—

Definition of a living organism :

...The necessary and sufficient condition for an object to be

recognizable as a living organism, and so to be the subject of biological investigation, is that it be a discrete mass of matter, with a definite boundary, undergoing continual interchange of material with its surroundings without manifest alteration of properties over short periods of times, and, as ascertained either by direct observation or by analogy with other objects of the same class, originating by some process of diversion or fractionation from one or two pre-existing objects of the same kind. The criterion of continual interchange of material may be termed the metabolic criterion that of origin from a pre-existing object of the same class, the reproductive criterion.

(Ency. Brit. (1968) vol. 3-653 a)

अर्थात्–किसी जीवित कहे जानेवाले पदार्थ को पहिचानने के लिए और उसके विषय में जाँच-पड़ताल करने के लिए आवश्यक और पर्याप्त लक्षण ये हैं कि यह एक सूझ-बूझ रखनेवाला किसी उपादान पदार्थ का टुकड़ा है, जिसकी निश्चित सीमाएँ होती हैं। इसमें निरन्तर उपादान पदार्थ का आदान-प्रदान अपनी पड़ोसी वस्तुओं से होता रहता है। प्रत्यक्षतः पदार्थ के रूप में अन्तर नहीं पड़ता। यह परीक्षणों से अथवा वैसे ही तुलना से जाना जा सकता है। यह उत्पन्न होता है: किसी प्रकार के विभाजन अथवा बंटने से, एक अथवा दो पहले ही उपस्थित जन्तुओं से। निरन्तर उपादान के आदान-प्रदान को हम उपापचयी (metabolic) कसौटी कह सकते हैं अथवा उसको वैसे ही पूर्व-उपस्थित पदार्थों से उत्पन्न होना कह सकते हैं। इसे जन्म भी कहते हैं।

यह परिभाषा न केवल भाषा के विचार से अति भद्दी है, प्रत्युत अशुद्ध भी है। इसका मिथ्यात्व इसका लेखक स्वयं ही समझ रहा है। अतः इसके साथ ही वह आगे कहता है–

A few inanimate systems satisfy the metabolic criterion, the best example and one that has rightly been the source of poetic analogy, is afforded by steady flames which have a definit boundary... (Ibid.)

अर्थात्–कुछ-एक अप्राणी पदार्थ भी इस लक्षण की उपापचयी कसौटी पर पूर्ण उतरते हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण, कवियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बनी हुई वह स्थिर ज्वाला है जिनकी निश्चित सीमा होती है।

हमारा मत है कि ज्ञान-कोष के इस लेख का लेखक प्राणी और अप्राणी में अन्तर न जानता हुआ अपने अज्ञान को भाषा के वाग्जाल में छुपाने का

यत्न कर रहा है। वह प्राणी के शरीर को ही प्राणी मान रहा है। यह ऐसे ही है जैसे बिजली-उत्पादक मशीन (Dynamo) को ही बिजली मान लिया जाए।

अब देखिए एक प्राणी के लक्षण वेद किस प्रकार करता है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्।।

—ऋ. 1-164-1

अर्थात्—इस सुन्दर वृद्धता को प्राप्त हो जानेवाले (प्राणी के शरीर) का कर्म करने वाला भ्राता (आत्मा) इसके मध्य में बैठा है और (प्रकृति का) भोग करता है। इन दोनों का एक तीसरा भाई है, जो अपने सात पुत्रों (शरीर के प्राणों) के साथ इसकी रक्षा करता है।

यह प्राणवान् पदार्थ की वैदिक परिभाषा है।

यहाँ पदार्थ का अर्थ समझ लेना चाहिए। इसका प्रयोग हमने प्राणी के लिए भी किया है। पदार्थ उसको कहते हैं जिसका ज्ञान हमें किसी शब्द अथवा शब्दसमूह से हो। अतः पदार्थ शब्द किसी भी वस्तु, तत्त्व, विचार अथवा सिद्धान्त के लिए प्रयोग किया जाता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभि चाकशीति।।

—ऋ. 2-164-20

अर्थात्—दो आत्मतत्त्व सखा के रूप में साथ-साथ सम्बन्धित, समान रूप में एक प्रकृति रूपी वृक्ष पर स्थित हैं। उनमें से एक तत्त्व वृक्ष (प्रकृति) के पके फलों का स्वाद लेता है और दूसरा उसका भोग नहीं करता। वह केवल साक्षी रूप में देखता ही है।

यद्यपि यह चित्र पूर्ण प्राणी जगत् का है, परन्तु मनुष्य पर अधिक लागू होता है।

वेद में कहे प्राणी के लक्षण में वह असंगति नहीं बैठती जो ऊपर लिखे ऐन्साइक्लोपीडिया के लेख में बताई गई है। वह लक्षण, उसके अपने कथनानुसार ही, कुछ-एक अप्राणी संगठनों में भी दृष्टिगोचर होता है।

वास्तव में ऐन्साइक्लोपीडिया के लेखक ने भूल यह की है कि उसने केवल शरीर का वर्णन किया है जिसमें जीवात्मा वास करता है। शरीर का वर्णन करते हुए उसने शरीर के स्वामी को छोड़ ही दिया है। शरीर, कुछ देर तक जीवात्मा के बिना रह सकता है और कार्य करता दिखाई देता है। यह उसके संवेग (momentum) के कारण से है। परन्तु एक शरीर तब ही प्राणी कहाता है, जब जीवात्मा उसमें आकर रहने लगता है।

प्राणी जीवात्मा-युक्त शरीर को कहते हैं। बिना जीवात्मा के शरीर के कार्य

करने का एक विख्यात उदाहरण है, जब शुक्राणु डिम्ब से संयुक्त तो होता है, परन्तु अभी माँ के गर्भाशय से संयुक्त नहीं होता। कई आचार्यों का तो यह भी मत है कि माँ के गर्भाशय से सम्बन्ध बन जाने के उपरान्त भी कुछ दिन तक जीवात्मा भ्रूण (foetus) में नहीं आता। वह तब ही शरीर में आता है जब उसके रहने योग्य स्थान अर्थात् हृदय में गुहा तैयार हो जाती है। इसमें कई आचार्यों का मत है कि गर्भस्थिति के उपरान्त चालीस दिन लग जाते हैं। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि कुछ समय संवेग के कारण शरीर बनता रहता है। और जब यह जीवात्मा के रहने योग्य हो जाता है, तब जीवात्मा उसमें आकर रहने लगता है।

तब तक शरीर में उसी प्रकार कार्य चलते रहते हैं जैसे एक स्थिर ज्वाला में उपापचयिक (metabolic) क्रियाएँ होती रहती हैं। परन्तु उस समय उसमें एक स्थिर ज्वाला की भाँति जीवात्मा (चेतन) तत्त्व के लक्षण नहीं आते। चेतन तत्त्व के लक्षण वैदिक विज्ञान में इस प्रकार बताए हैं–

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानिं आत्मनो लिङ्गम् इति।।

—न्या. 1-1-10

अर्थात्–आत्मा के लिंग (चिह्न) हैं इच्छा करना, विपरीत परिस्थिति का विरोध करना, अनुकूल को प्राप्त करने का यत्न करना, सुख तथा दुःख को अनुभव करना और अपने में चेतना (consciousnes) रखना।

चेतना शब्द जिसके लिए ऊपर के न्याय-सूत्र में ज्ञान का शब्द आया है, विशेष अर्थवाला है। इसके लिए ब्रह्मसूत्रों में 'ईक्षण' शब्द का प्रयोग किया है। ऐन्साइक्लोपीडिया के लेखक ने 'डिस्क्रीट' शब्द का प्रयोग किया है। ईक्षण का अर्थ discriminate अर्थात् भेदभाव करनेवाला और दिशा-काल का निश्चय करनेवाला कहा जाए तो अधिक उपयुक्त होगा।

हम समझते हैं कि इन गुणों से संयुक्त पदार्थ प्राणी कहाता है और वह शरीर जीवात्मा-सहित होता है। इन गुणों को न रखनेवाला पदार्थ अप्राणी अर्थात् बिना जीवात्मा के होता है।

वैदिक विज्ञान में जगत् के पदार्थों को दो श्रेणियों में बाँटा गया है–जड़ और चेतन। चेतन प्राणी कहे जाते हैं और जड़ अप्राणी हैं।

द्वितीय अध्याय

सृष्टि (जड़-चेतन—2)

ऊपर हम चेतन पदार्थों के विषय में बता चुके हैं। शरीर सहित जीवात्मा को चेतन कहा है। अब जड़ के विषय में बता रहे हैं। जड़ पदार्थ वे हैं जो कभी कहीं ठहरे हों तो ठहरे ही रहते हैं अथवा चलते हों तो सीधी रेखा में और एक स्थिर गति से चलते ही रहते हैं।

परन्तु हम देखते हैं कि जगत् के पदार्थ प्रायः गतिशील होते हैं। इसी कारण उनको जगत् का नाम दिया गया है। जगत् का शाब्दिक अर्थ है जो गति कर रहा है। अभिप्राय यह है कि जगत् के प्रायः पदार्थ गतिशील हैं, परन्तु ये निश्चित गति से एक सीधी रेखा में चल नहीं रहे। इसका अर्थ यह है कि जगत् के पदार्थ भी जड़ से कुछ अधिक हैं। जैसे प्राणी मृत शरीर से कुछ अधिक होता है, इसी प्रकार जगत् के पदार्थ सर्वथा जड़ से कुछ अधिक हैं।

न्यूटन के गति के नियमों में बताया है कि एक जड़ पदार्थ यदि स्थिर है तो स्थिर ही रहता है और यदि गति कर रहा है तो सीधी रेखा में एक निश्चित गति से चलता ही रहता है।

इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र (2-2-4) में बताया है कि जड़ पदार्थ अपनी अवस्था नहीं बदलते जब तक उन पर किसी बाहर के पदार्थ का प्रभाव न पड़े।

जगत् के सब पदार्थ चल रहे हैं और चल रहे हैं अण्डाकार गति (elliptical motion) में।

इस गति का कारण न्यूटन के शब्दों में इस प्रकार है—

....Newton proposed that one and the same force of universal gravitation causes the planets to revolve about the sun in elliptical paths according to Kepler's laws. Furthermore, this force, which loses effect with the square of the distance, keeps the moon in motion about the earth and causes objects to fall to the earth.

(Ency Brit. (1968) 16-418-d)

अर्थात्–न्यूटन ने यह विचार प्रकट किया कि एक सार्वभौमिक शक्ति, जिसे भू-आकर्षण कहते हैं, उपस्थित है। इस शक्ति से ग्रह सूर्य के चारों ओर अण्डाकार मार्ग पर घूमते हैं। इनकी यह गति कैप्लर के बताए नियमों के अनुसार है। साथ ही यह बताया है कि यह शक्ति अन्तर के वर्गफल के अनुसार कम होती जाती है।

एक शक्ति किसी वस्तु में गति उत्पन्न करती है। इससे वह वस्तु सीधी रेखा में जानी चाहिए। यह शक्ति भू-आकर्षण है जिससे पृथिवी चन्द्र को अपनी ओर खींच रही है। चन्द्र की सीधी रेखा में गति का वेग इससे सन्तुलित हो पृथिवी के चारों ओर इसकी गति को अण्डाकार बना देता है।

न्यूटन का कथन सत्य ही अद्भुत था परन्तु यह कथन अधूरा था। वह यह नहीं बता सका कि चन्द्र अथवा ग्रहों में यह गति आई कहाँ से। इसी प्रकार पृथिवी की आकर्षण-शक्ति जो चन्द्र को अपनी ओर खींच रही है, वह आई कहाँ से? क्या इन दोनों गतियों को उत्पन्न करनेवाली शक्तियाँ पृथिवी इत्यादि ग्रहों में अनादि काल से हैं? क्या ये तब भी थीं, जब ये ग्रह अभी बने ही नहीं थे? इसी प्रकार क्या ये तब भी रहेंगी जब पृथिव्यादि परमाणुओं में विलीन हो जाएँगे? तब तो इनको टूटना ही नहीं चाहिए। यदि टूटते हैं तो बनना ही नहीं चाहिए। यदि आदि रूप से ये बने हैं तो इनमें बनने के समय कुछ नई शक्ति कहीं से अवश्य आई होगी और जब ये टूटने लगेंगे तो इनमें से कोई शक्ति विलुप्त होगी। वह शक्ति क्या थी और कहाँ से आई? क्या वह शक्ति जो जहाँ से भी आई, वह ही भू-आकर्षण नहीं है?

इस शक्ति, जिससे नक्षत्र सीधी गति में जाने लगे और उस शक्ति का, जिससे पृथिवी चन्द्र को आकर्षित कर रही है, अथवा सूर्य ग्रहों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है, स्रोत क्या है? वह इनमें स्वाभाविक (natural) नहीं हो सकती। यदि ऐसा मानें तो उसे बनना ही नहीं चाहिए था और यदि ये सदा से बने हैं तो इनको कभी टूटना ही नहीं चाहिए।

वेद में इसका स्रोत बताया है। वहाँ कहा है–

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्–
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधाः कस्य स्विद्धनम्।।

–यजु. 40-1

अर्थात्–इस चलायमान्न जगत् में जो कुछ भी चल रहा है, सब उस परमात्मा से आच्छादित है। यह जगत् त्यागने योग्य है। मत इसका लालच कर।

यह बात वेद में कथनमात्र ही है, परन्तु दर्शनशास्त्र में इसको युक्ति से सिद्ध भी किया गया है। न्यूटन ने जिस शक्ति के विषय में कहा है–

Every particle of matter attracts another particle of matter

with force which is equal to the product of their masses and indirectly proportional to square of their distance.

वह शक्ति बराबर है दोनों के द्रव्यमान के गुण के और दोनों में अन्तर के प्रतिलेपक अनुमान के (inversly proportional to the square of)।

यह कथन ठीक है। यह शक्ति की गिनती-मिनती है। परन्तु न्यूटन ने स्वयं माना है कि प्रकृति अपनी निश्चल अवस्था से चलायमान अवस्था में किसी के प्रभाव के बिना नहीं आती, क्योंकि प्रकृति का कोई भी कण निश्चल अवस्था से गति की अवस्था में आ ही नहीं सकता बिना बाहरी शक्ति के प्रभाव के। गति के नियम में वह ऐसा बता चुका है।

वैदिक विज्ञान यह मानता है कि यह आकर्षण-विकर्षण की शक्ति परमाणुओं में उपस्थित होती है, परन्तु मूलावस्था में यह परस्पर एक-दूसरे को विलीन कर रही होती है। इसे साम्यावस्था कहते हैं। अंग्रेजी में balanced state कहेंगे। इस साम्यावस्था को परमात्मा भंग करता है। तब परमाणुओं में आकर्षण-विकर्षण होने लगता है।[1]

क्योंकि परमाणुओं की साम्यावस्था उस समय भंग होती है, जब सृष्टि-रचना होने का समय होता है, इस कारण यह माना जाता है कि परमात्मा में ईक्षण करने की शक्ति है। यह उस साम्यावस्था को भंग करने का स्थान और समय निश्चय करता है और उस समय तथा स्थान पर असंख्य परमाणुओं में साम्यावस्था भंग कर देता है।

एक परमाणु में तीन शक्तियाँ सत्त्व, रजस् और तमस् होती हैं। ये त्रिकटी के समान एक-दूसरे को निस्तेज (neutralize) कर रही होती हैं। इसमें तमस् (o) अर्थात् neutral; रजस् है ऋण (–) अर्थात् negative और सत्त्व है धन (+) अर्थात् positive। जब ये शक्तियाँ विमुक्त (release) हो जाती हैं तब ये परस्पर आकर्षित-विकर्षित होने लगती हैं। इस आकर्षण-विकर्षण से पाँच प्रकार की शक्तियाँ प्रकट होती हैं। इसको तन्मात्र कहते हैं। इनमें एक तन्मात्र भू-आकर्षण है।

इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि भू-आकर्षण (gravity) परमाणुओं में तब उत्पन्न होता है जब सत्त्व, रजस्, तमस् विमुक्त होकर परस्पर एक-दूसरे को आकर्षित करने लगते हैं।

सत्त्व, रजस्, तमस् परमात्मा की शक्ति से मुक्त होते हैं। इनसे पाँच शक्तियों (पाँच तन्मात्र-समूह) के विषय में जिनमें भू-आकर्षण एक है, हम आगे चलकर बताएँगे। यहाँ केवल इतना बताने से ही प्रयोजन है कि परमाणुओं की यह शक्ति किसी अति महान् शक्तिमान् की करनी का ही फल हो सकती है। संसार में

1. इसकी विवेचना देखें लेखक की रचना, 'विज्ञान और विज्ञान' में। –पृ. 39-45

अन्य कोई दिखाई देता नहीं जो असंख्य परमाणुओं की साम्यावस्था को भंग कर उनमें की शक्ति को सक्रिय कर सके।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि परमात्मा को मानने की क्या आवश्यकता है? प्रकृति में ही इस शक्ति को क्यों न मान लिया जाए, जो स्वतः विमुक्त हो जाती है? दूसरे शब्दों में शक्ति और शक्तिमान् को एक क्यों न मान लिया जाए? वैदिक विज्ञान अपने अनुभव से यह मानता है कि शक्ति में ईक्षण का गुण नहीं होता। यह गुण शक्ति के अतिरिक्त किसी ज्ञानवान् में ही सम्भव है कि शक्ति को विमुक्त करने का काल, स्थान, दिशा इत्यादि का निश्चय करे। शक्ति ज्ञान की स्वामिनी नहीं है।

विद्युत् का उदाहरण लिया जा सकता है। विद्युत शक्ति है। परन्तु यह कहाँ कार्य करे, कब कार्य करे और क्या कार्य करे, यह निश्चय स्वयं नहीं करती। यह तो कोई चेतन ही निश्चय करता है। इस कारण शक्ति से शक्ति के प्रयोग करनेवाले को पृथक् माना जाता है। यही बात परमाणुओं से शक्ति के विमुक्त करने की है।

वैदिक विज्ञान शक्ति और शक्तिमान् को पृथक्-पृथक् मानता है।

अभी तक हमने यह बताया है कि जगत् में दो प्रकार के पदार्थ दिखाई देते हैं—एक को प्राणी कहते हैं और दूसरे को अप्राणी। अप्राणी अर्थात् जड़ पदार्थों में भी दो प्रकार के पदार्थ हैं—एक प्रकार के पदार्थ हैं गतिशील और दूसरे प्रकार के पदार्थ हैं निश्चल।

वर्तमान विज्ञान में भी एक पदार्थ ऐसा माना जाता है जिसे गतिहीन और अदृश्य कहते हैं। इसे न्यूट्रिंज (nutrinz) का नाम दिया गया है।

न्यूट्रिंज के विषय में यह पता किया गया है कि यह एक विपरीत आवेशवाला इलैक्ट्रोन और विपरीत आवेशवाला प्रोटोन होता है। अभिप्राय यह है कि सामान्य इलैक्ट्रोन पर ऋण-विद्युत् का आवेश (negative charge) होता है। विपरीत आवेशवाले इलैक्ट्रोन पर धन-विद्युत् (positive charge) का आवेश होता है। इसी प्रकार सामान्य प्रोटोन पर धन-विद्युत् का आवेश होता है और विपरीत आवेशवाले प्रोटोन पर ऋण-विद्युत का होता है। इन विपरीत आवेशवाले कणों को विपरीत उपादान (anti-matter) कहते हैं। यह कहा जाता है कि जब उपादान और विपरीत उपादान के कण परस्पर टकरा जाते हैं तो पहले एक मीजोन-कण बनता है और वह तुरन्त ही एक द्रव्यमान-रहित कण बन जाता है जो दृष्टि से ओझल हो जाता है। यह न्यूट्रिंज है।

यह गतिहीन जड़ कण परमाणु है। इसके विषय में वेद में कहा है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।

—ऋ. 10-129-1

तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वम् इदम्।

—ऋ. 10-129-3

अर्थात्—सृष्टि बनने से पूर्व न कुछ स्वरूपवान् और न ही कुछ अस्वरूपवान् था। न व्योम था, न ही उससे परे कुछ था।

वहाँ अन्धकार था। उस अन्धकार में निश्चल, गम्भीर, न जानने योग्य एक बह जानेवाला (पदार्थ) सब स्थान पर था। वह सर्वत्र भरा हुआ था।

हमने यह बताया है कि प्रकृति (सलिल) बह जाने वाला (fluid) पदार्थ था, परन्तु वह कणदार निश्चल (तमस्) था। इसे अंग्रेजी में इनर्ट (inert) कहते हैं। उस समय वह—

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नः परः किं चनास।

ऋ. 10-129-2

निश्चल प्राण (inactive force) अपने-आप धारण हुआ (प्रकृति) था और इससे दूसरा और कुछ भी नहीं था।

यह सृष्टि-रचना से पूर्व में उपस्थित पदार्थ के विषय में बताया है कि एक निश्चल पदार्थ था और एक निश्चल शक्ति (inactive force) थी।

अतः हमने बताया है कि प्रकृति सलिल (बह जानेवाली) अर्थात् कणदार, अति सूक्ष्म कणों में निश्चल उपस्थित थी। वह गतिहीन थी। इसलिए मृतप्राय थी।

वैज्ञानिकों ने देखा है कि जिस समय मैटर, ऐण्ट्री-मैटर से टकरा जाता है उस समय इसमें से गामा (α) किरणें निकलती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि उस गामा किरण से ही वह कण गतियुक्त हुआ था। वैदिक विज्ञान यह मानता है कि वह शक्ति परमात्मा की है। यह हम बता चुके हैं कि शक्ति बिना शक्तिमान् के कार्य नहीं कर सकती। इस शक्ति का, ऊपर दिए मन्त्र (10-129-2) में 'आनीदवातं स्वधया तदेकं' कहकर वर्णन कियां है। इस शक्ति के विषय में और भी कहा है—

तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।

—ऋ. 10-129-3

अर्थात्—उस, जो चारों ओर से ढकी हुई थी, पर एक तपस (तप्त) और महान् शक्ति उत्पन्न हुई।

उस महान् और अग्निस्वरूप से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई? इसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ इतना बताने से ही प्रयोजन है कि जब प्रकृति से परमात्मा की शक्ति का संयोग हो जाता है, तब सृष्टि-रचना कार्य आरम्भ हो जाता है। अभिप्राय यह है कि निश्चल प्रकृति में गति उत्पन्न हो जाती है।

इस चलायमान प्रकृति में जब 'दूसरे' चेतन तत्त्व का भी समावेश हो जाता

है तो एक प्राणी की सृष्टि हो जाती है। हम ऊपर प्राणी का लक्षण बताते हुए एक वेदमन्त्र (1-164-20) से यह बता चुके हैं कि एक प्राणी में दो चेतन तत्त्व होते हैं।

यही बात ब्रह्मसूत्रों में युक्ति से समझाई गई है। वहाँ कहा है–

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्। –ब्र. सू. 1-2-11

अर्थात्–(प्राणी का शरीर काम करता है) गुहा में दो आत्म-तत्त्वों के होने से।

गुहा क्या है? प्राणी के हृदय (मस्तिष्क) में एक छोटा-सा रिक्त स्थान है। उस स्थान में परमात्मा और जीवात्मा दोनों की उपस्थिति सिद्ध होती है।

इससे यह पता चलता है कि चलायमान जगत् में तो परमात्मा और प्रकृति में संयोग से रचना-कार्य होता है। परन्तु सूत्रकार महर्षि व्यास कहते हैं कि प्राणी के शरीर में दो आत्मतत्त्व हैं और यह बात हम दर्शन से अर्थात् युक्ति से जानते हैं।

इससे पहले एक अन्य सूत्र दिया जा चुका है–

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्। –ब्र. सू. 1-2-1

इसमें कहा है कि जगत् जो सब स्थान पर सब जानते हैं, उसके ज्ञान से यह विदित होता है कि सामान्य गतिशील जगत् से प्राणी में कुछ विशेषता है। और यह विशेषता है एक-दूसरे आत्मतत्त्व की उपस्थिति। अर्थात् प्राणी में दो आत्मतत्त्व हैं। एक परमात्मा है, जो जगत् के अन्य पदार्थों की भाँति इसमें भी गति उत्पन्न करता है। और दूसरा है जीवात्मा, जो प्राणी के विशेष गुणों को उत्पन्न करता है। दोनों आत्मतत्त्वों में अन्तर है। उस अन्तर का वर्णन दर्शनशास्त्र इस प्रकार करता है। वह कहता है–

विशेषणाच्च। –ब्र. सू. 1-2-12

अन्तर उपपत्तेः। –ब्र. सू. 1-2-13

अर्थात्–इन आत्मतत्त्वों के विशेषणों का ज्ञान प्राप्त करने से अन्तर प्रकट होता है।

इनमें जीवात्मा (एक आत्मतत्त्व) के लक्षण हम न्यायदर्शन के एक सूत्र (1-1-10) से बता चुके हैं। वहाँ कहा है कि जब किसी पदार्थ में हम इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और चेतना देखें तो उस पदार्थ में जीवात्मा की उपस्थिति सिद्ध होती है।

और परमात्मा के विशेष गुण हैं–

प्राणस्तथाऽनुगमात्।। –ब्र. सू. 1-1-28

अर्थात्–(शरीर में) प्राणों के कार्य करने से। अर्थात् प्राणी के शरीर में प्राण (कार्य करने की शक्ति) परमात्मा के कारण है।

परमात्मा का एक और लक्षण बताया है। वह इस प्रकार है—

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्।। —ब्र. सू. 1-2-8

अर्थात्—यदि यह कहो कि शरीर में परमात्मा के होने से वह भी भोग करता है, तो ऐसा नहीं है। कारण यह है कि परमात्मा की यह विशेषता है। क्या विशेषता है? विशेषता यह है कि वह ज्ञानवान् होने से प्रकृति से अलिप्त रहता है। प्रकृति में लिप्तता अज्ञानता के कारण होती है।

यह माना जाता है कि परमात्मा सर्वव्यापक अर्थात् सब स्थान पर विद्यमान है। इस कारण भी कहा जाता है कि यह प्राणी के शरीर में भी है।

दूसरे अध्याय में हमने बताया है कि जड़ प्रकृति दो रूपों में है—एक मूल प्रकृति के रूप में; उस रूप से यह निश्चल होती है; दूसरे कार्य-जगत् के रूप में; तब यह परमात्मा की सहायता से कार्य करती है। परमात्मा सर्वत्र विद्यमान होने से प्रकृति के सम्पर्क में सदैव रहता है, परन्तु संयोग का अर्थ है सक्रिय सहयोग। ऐसी अवस्था में यह जड़ प्रकृति में गति उत्पन्न करता है।

इस प्रकार हमने इस जगत् में तीन तत्त्वों की विद्यमानता बताई है—एक जड़ प्रकृति तथा दो आत्मतत्त्व (परमात्मा और जीवात्मा)।

प्रकृति वह उपादान (material) कारण प्रस्तुत करती है जिससे सृष्टि के पदार्थ बनते हैं।

तृतीय अध्याय

सृष्टि में जड़-तत्त्व

यह हम बता चुके हैं कि इस सर्वविदित जगत् को देखने से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि यह जड़ है। जड़ के लक्षण हम बता चुके हैं। जो जब ठहरा हो तो ठहरा रहे। किसी चेतन के प्रभाव के बिना वह गति में न आए। जड़ के लक्षणों में यह भी कहा है कि वह गतिशील होने पर सीधी रेखा में और स्थिर वेग से गति करता ही जाता है, जब तक किसी चेतन के प्रभाव में नहीं आ जाता। गति की दिशा और गति का वेग किसी दूसरे के प्रभाव में आने पर ही बदल सकता है।

हॉकी के एक गेंद का उदाहरण लिया जा सकता है। गेंद हॉकी-ग्राउण्ड के मध्य में रखा है, परन्तु वहाँ खिलाड़ी कोई नहीं, जो उसे ठोकर मारकर गतिशील कर सके। वह गेंद शताब्दियों तक भी पड़ा रहे तो भी मैदान में हिले-डोलेगा नहीं। अतः गेंद जड़ है। वह पृथिवी के अन्य पदार्थों की भाँति पृथिवी के साथ तो गति कर रहा होता है, परन्तु पृथिवी के विचार में वह स्थिर है। इसी प्रकार मेज पर पड़ी एक पुस्तक का उदाहरण ले सकते हैं। मेज को हिलाओ तो पुस्तक उसके साथ हिलती है, परन्तु जब तक पुस्तक को कोई हिलाता नहीं, तब तक पुस्तक अपने स्थान से नहीं हिलती। इस कारण पुस्तक जड़ है।

सब जड़ पदार्थों का मूल कारण है प्रकृति। प्रकृति के आदि रूप को 'प्रधान' अथवा 'उपादान' भी कहते हैं। इसे अंग्रेजी भाषा में प्रिमॉर्डियल-मैटर (Primordial matter) कहते हैं। सब जगत् के पदार्थों का मूल कारण यह है। परन्तु जगत् के प्रायः पदार्थ गति कर रहे हैं। यह हम पहले बता चुके हैं कि ये सब पदार्थ हिलते अर्थात् गतिशील क्यों हैं?

ब्रह्मसूत्र में कहा है–

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्।। –ब्र. सू. 2-1-5

अर्थात्–अभिनय करते हुओं की तो विशेष गतियाँ हैं। ऐसा उपदेश (कथन) है। अभिप्राय यह है कि कार्य-जगत् के पदार्थ जड़ हैं परन्तु (परमात्मा द्वारा)

उसमें विशेष गतियाँ ऐसे उत्पन्न होती हैं जैसे सूत्रधार नटों से नाटक कराता है।

जगत्—सूर्य, चन्द्र, पृथिव्यादि नक्षत्र और ग्रह—ये सब कार्य कर रहे हैं। अर्थात् अनेकानेक प्रकार की गतियों से चल रहे हैं। सूत्रकार का कहना है कि ये सब कार्य परमात्मा की प्रेरणा से हो रहे हैं।

वर्तमान वैज्ञानिकों की एक श्रेणी यह मानती है कि तारागण की गति किसी भी प्रकार से किसी नियमानुसार नहीं है। वे कहते हैं कि प्रकृति में विस्फोट हुआ था और बम्ब फटने की भाँति उसके टुकड़े चारों ओर उड़ने लगे। ये टुकड़े ही सूर्य-चन्द्र नक्षत्र इत्यादि हैं।

इस विचार को उपस्थित करनेवाले कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के मिस्टर राइल तथा कुछ अन्य विद्वान् हैं। वे कहते हैं कि ब्रह्माण्ड का जन्म एक हजार करोड़ (10,00,00,00,000) वर्ष पूर्व हुआ था। यह अत्यन्त सघन पदार्थों के अभूतपूर्व महाभयंकर विस्फोट के कारण था। उस विस्फोट के फलस्वरूप असंख्य ताराओं तथा आकाश-गंगाओं की सृष्टि हुई थी। ये तारागण और आकाश-गंगाएँ उस महान् विस्फोट से उत्पन्न ऊर्जा से ही ब्रह्माण्ड के केन्द्र से उसकी परिधि की ओर निरन्तर बढ़ी जा रही हैं। ब्रह्माण्ड की प्रसरणशीलता का रहस्य, उनके अनुसार, इसी विस्फोट में छिपा हुआ है।[1]

इस विचार को ऐन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में इस प्रकार प्रकट किया है—

The cornerstone of modern cosmogonocal theories is the assumption that the system of galaxies scattered through the vast space of the universe is in the state of progressive expansion or dispersal. (Ency. Brit. (1968) 6-578b)

इस पद का अर्थ है—वर्तमान खगोल-विद्या की आधार-शिला में यह विचार है कि आकाश-गंगाएँ जो असीम विश्व में फैली हुई हैं, निरन्तर फैल रही हैं अथवा बिखर रही हैं।

यह विस्फोट से ही सम्भव माना जाता है।

एक अन्य विचार भी प्रस्तुत किया गया है। इसके प्रवक्ता भी कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के सर्वश्री एच. बोंदी, टी. गोल्ड तथा एफ. होयल (H. Bondi, T. Gold, Hoyle) हैं। इनका सिद्धान्त है स्थिर दशा सिद्धान्त (Steady State)।

इस विषय में कहा है—

In 1948 an entirely new and revolutionary theory was proposed in Cambridge, Eng. by H. Bondi, T. Gold, F. Hoyle, which apart

1. डॉ. प्रकाश द्वारा रचित 'भारतीय सृष्टि विद्या' (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन), पृ. 147 से उद्धृत।

from its purely philosophical and mathematical merits, also circumvented the above-mentioned (and now non-existent) discrepancy between the age of the universe as estimated from recession velocities and the age given by astrophysical and geological data. (Ency. Brit (1968) 6-579a)

अर्थ है—सन् 1948 में एक सर्वथा नवीन और क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किया गया। यह कैम्ब्रिज के श्री एच. बोंडी, टी. गोल्ड और एफ. होयल ने उपस्थित किया। यह विचार जहाँ दार्शनिक और गणित-विद्या के गुणों से युक्त है, वहाँ यह जगत् के उत्पत्ति-काल में अन्तर जो आकश-गंगाओं के पीछे हटने से पता चला था और जो अन्तरिक्ष की भौतिकी और भूगर्भ विद्याओं की गणना में था, को समझाता है।

....The New Theory, known as steady' state cosmology, assumes that progressive dispersal of galaxies does not lead to rarefaction of the space of the universe, because their place is taken by younger galaxies which condense from new matter that is being continuously created (from nothing) all through the intergalactic space. (Ibid.)

यह नया विचार, जो 'स्थिर दशा सिद्धान्त' कहा जाता है, मानता है कि आकाश-गंगाओं के फैलने का सिद्धान्त यह प्रकट नहीं करता कि विश्व के पदार्थ में पतलापन आ रहा है, क्योंकि उन आकाश-गंगाओं के फैलने से, खाली हो रहे स्थान पर नई आकाश-गंगाएँ बन रही हैं, जो उपादान के जम जाने से बन रही हैं (उपादान जो शून्य से बन रहा है)। यह आकाश-गंगाओं के खाली स्थान पर हो रहा है।

उपर्युक्त दोनों वक्तव्यों को समझाने के लिए थोड़ा आकाश-गंगाओं का वर्णन कर देना उचित होगा।

आकाश-गंगा, जिसमें हमारा सौर-मण्डल उपस्थित है, एक अति विशाल तारक-समूह है। रात के समय आकाश की ओर देखें तो सफेद बादलों की एक धारा-सी दिखाई देती है। यह आकाश-गंगा है। वास्तव में यह एक बहुत बड़ा तारक-समूह है जिसमें हमारी पृथिवी और हमारा सौर-मण्डल नगण्य अंश हैं। हमारी पृथिवी एक छोटे-से ग्रह, सूर्य के चारों घूम रही है। सूर्य-परिवार अर्थात् सूर्य तथा उसके चारों ओर घूमनेवाले ग्रह, सब मिलकर भी आकाश-गंगा नाम के तारक-समूह में ऐसा है जैसे सागर-तट पर रेत का एक कण।

विश्व की सीमाएँ तो पता नहीं चलीं और हमने इसके एक बहुत ही छोटे अंश की खोज की है। इस अंश के एक बहुत छोटे-से कोने में आकाश-गंगा

आती है और आकाश-गंगा में हमारा सौर-मण्डल (सूर्य अपने ग्रहों के साथ) ऐसे है जैसे सागर में एक बिन्दु।

जो कुछ दूरबीन से अभी तक देखा गया है, वह इतना विशाल है कि यदि हम प्रकाश की गति (1,86,300 मील प्रति सैकण्ड) से दौड़ लगाएँ तो इस दृश्य जगत् के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचने में 6,00,00,00,000 वर्ष लग जाएँगे। यह निश्चय ही है कि विश्व (universe) इससे भी बहुत बड़ा है। जैसी आकाश-गंगा है, ऐसी छोटी-बड़ी पाँच सौ से ऊपर आकाश-गंगाएँ देखी जा चुकी हैं।

आकाश-गंगा से सम्बन्धित गंगाओं के झुण्ड में 14 गंगाएँ (तारक समूह) देखे जा चुके हैं। इन गंगाओं के समूह में हमारी आकाश-गंगा सबसे बड़ी है और घूमती हुई थाली की भाँति दिखाई देती है। इस थाली के एक कोने पर हमारा सौर-मण्डल स्थित है। यह अनुमान लगाया गया है कि इस थाली के साथ घूमते हुए हमारे सूर्य को पूरा चक्कर काटने में 20,00,00,000 वर्ष लगते हैं।

हमारा सौर-मण्डल यहीं कहीं है।

आकाश-गंगा की थाली के मध्य में तारों की संख्या बहुत अधिक है। थाली के कोने पर तारे कम और दूर-दूर हैं। वैसे आकाश में कुल तारों की संख्या 1,00,00,00,00,000 (एक खरब) से कुछ अधिक ही है। केन्द्र में तो तारे दूरबीन से भी भली-भाँति दिखाई नहीं देते। यह 'कॉस्मिक डस्ट' (अन्तरिक्ष रज) के कारण है। कहीं-कहीं तारे इतने समीप-समीप हैं कि वे सब एक-दूसरे में मिल गए हैं। वैसे आँख से तो ऐसा हम बहुत प्राचीन काल से देख रहे हैं। इसी कारण इसे आकाश-गंगा के नाम से पुकारा जाता है। इसे अंग्रेजी में मिल्की-वे (Milky way) भी कहा जाता है।

यहाँ हमने दो प्रकार के विचार वर्णन किए हैं—एक विचार यह है कि

गंगाएँ स्थिर हैं और दूसरा विचार है कि विस्फोट हुआ है और बम्ब के टुकड़ों (splinters) की भाँति कण किसी केन्द्र-स्थान से उड़कर दूर-दूर जा रहे हैं।

यह हमने वर्तमान विज्ञान के अनुसार बताया है।

वैदिक विज्ञान में भी आकाश-गंगाओं का वर्णन है। वेदों में इनका सविता, त्वष्टा, हिरण्यगर्भ, हिरण्य-स्तूप तथा शक-धूम इत्यादि नामों से उल्लेख है।

यहाँ हम उक्त आधुनिक विज्ञान से एक मतभेद की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। हम ऐन्साइक्लोपीडिया (6-578 बी) के उद्धरण में बता आए हैं कि कॉस्मोलॉजी के नए विचार (स्थिर-दशा सिद्धान्त) वाले यह मानते हैं कि शून्य से उपादान (matter) बन रहा है।

वैदिक विज्ञान ऐसा नहीं मानता। वैदिक विज्ञान तो यह कहता है कि—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत।। —छां. उप. 6-2-1

इस पद का अर्थ है—आरम्भ में सत् ही था। यह एक अद्वितीय (अपने समान दूसरा न रखनेवाला) था। कुछ एक कहते हैं कि आदि में असत् ही था जो अद्वितीय था। उस असत् से सत् उत्पन्न हुआ।

आगे कहा है—

कुतस्तु खलु सोम्यैद ँ स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।। —छां. उप. 6-2-2

ऐसा कहाँ से, निस्सन्देह हे सोम्य! (उत्पन्न) हो गया? ऐसा निश्चय से कैसे असत् (शून्य) से कुछ (सत्) उत्पन्न हो सकता है? सत् (सदा रहने वाला) ही यह पहले था; यह एक ही पहले अद्वितीय था।

यहाँ सत् अनादि प्रकृति को कहा है। वह अद्वितीय अर्थात् अपने समान दूसरा न रखनेवाली थी। अपनी जैसी एक ही थी। वेद में इसको स्वधा (ऋ. 10-129-2, 3) कहा है।

एक अन्य उपनिषद् में इस प्रकार कहा है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

—श्वे उप. 4-5

अर्थात्—एक अजन्मा (अनादि) तत्त्व है। इसके तीन रूप हैं—लोहित (रजस्), शुक्ल (सत्त्व), कृष्ण (तमस्)। यह अनादि तत्त्व अपने ही स्वरूप (जड़) वाली अनेक प्रजाओं (पदार्थों) को बनाती है।

इसका अभिप्राय यह है कि सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है और इन गुणों से युक्त ही जगत् के अनेकानेक पदार्थ बने हुए हैं :

उपनिषद् के उक्त वाक्यों को दर्शनशास्त्र युक्ति से सिद्ध करते हैं। उदाहरण के रूप में सांख्य दर्शन कहता है—

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः। —सांख्य. 1-78

अर्थात्—अवस्तु (शून्य) से वस्तु की सिद्धि नहीं होती। अभिप्राय यह है कि शून्य से जगत् के ये पदार्थ कैसे बन गए? वेद में भी कहा है कि—

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।

—ऋ. 10-129-2

तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।

—ऋ. 10-129-3

अर्थ है—गतिरहित प्राण और स्वधा (प्रकृति) के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं था।

रचना से पूर्व अन्धकार था और यह सब-कुछ जो सलिल और न जाना जाने योग्य था, चारों ओर से अन्धकार से ढंका हुआ था।

इन मन्त्रों में कहा है कि सृष्टि-रचना से पूर्व एक स्वधा नाम का पदार्थ था। यह तरल (fluid) था और इतना सूक्ष्म था कि न जाना जाने योग्य था।

सलिल का अर्थ है कि वह (न जाना जाने योग्य) पदार्थ बहनेवाला था। बह सकनेवाला पदार्थ वही हो सकता है जिसके कण (particles) परस्पर बिना जुड़े हुए एक-दूसरे के समीप-समीप हों। यह ऐसे ही हैं, जैसे रेत के कण होते हैं। परन्तु इसके कण रेत के कणों से बहुत ही छोटे-छोटे होते हैं। रेत के कण तो आँखों से देखे जा सकते हैं, परन्तु प्रकृति के परमाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि यन्त्रों की सहायता से भी आँखों से देखे नहीं जा सकते।

सांख्य दर्शन में इसको इस प्रकार कहा है—

आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत्। —सांख्य. 1-74

अर्थ है—आदि कारण होने के कारण इससे बने पदार्थ भी परम्परा से अणु की भाँति कणों में हैं। इसका अभिप्राय यह है कि क्योंकि प्रकृति जगत् के सब पदार्थों का मूल कारण है, अतः यह परमाणु की भाँति टुकड़ों में है।

जैसे ईंटों से भिन्न-भिन्न रूप-राशि के मकान बन सकते हैं, इसी प्रकार प्रकृति के भी बहुत छोटे-छोटे टुकड़े हैं, तभी इससे जगत् के अनेकानेक पदार्थ बन सके हैं। प्रकृति के अन्तिम कणों को परमाणु कहते हैं।

आगे कहा है—

परिच्छिन्नं न सर्वोपादानाम्। —सांख्य. 1-76

अर्थात्—जगत् की सब वस्तुओं का उपादान होने के कारण यह (प्रकृति) कटी हुई नहीं। अभिप्राय यह है कि ऐसी नहीं कि कहीं पर यह है और कहीं यह नहीं है।

परिच्छिन्न उसको कहते हैं जो कहीं हो और कहीं न हो, अथवा जो कभी हो और कभी न हो। प्रकृति सदा और सर्वत्र उपस्थित रहती है। हाँ, रचना

कहीं होती है और कहीं नहीं होती—यह भिन्न बात है।

वैदिक विज्ञान ऐसा नहीं मानता कि शून्य से उपादान गाढ़ा (condensed) हो जाता है और फिर नैब्युला बन जाते हैं। आदि पदार्थ व्योम में सर्वत्र उपस्थित है और जहाँ परमात्मा की रचना करने की कामना होती है, वहाँ पर यह उपादान पदार्थ गाढ़ा होने लगता है। कैसे? यह आगे चलकर बताएँगे। यहाँ इतना बताने से ही प्रयोजन है कि उपादान पदार्थ (material cause) सर्वत्र उपस्थित माना जाता है, परन्तु रचना उन स्थानों पर ही होती है, जहाँ रचना होनी होती है।

आधुनिक विज्ञान इस विषय में कुछ नहीं जानता। केवल कुछ वर्ष हुए हैं जब इनको यह ज्ञान हुआ था कि जब ऋण-विद्युत् आवेश वाला इलैक्ट्रोन धनविद्युतवाले इलैक्ट्रोन से टकराता है तो दोनों विनष्ट हो जाते हैं और उनसे एक न-टिकाऊ कण, 'मीजोन' बन जाता है और वह क्षण के एक अंश में ही 'न्यूट्रिंज' में बदल जाता है, जो द्रव्यमान-रहित कण है।

हम समझते हैं कि यह आधुनिक विज्ञान और वैदिक विज्ञान का संगम-स्थान सिद्ध होगा। कदाचित् तब ही पता चलेगा कि जगत् में कार्य करने वाली शक्तियाँ कहाँ से आईं। जब 'मीजोन' बनता है तो वह शक्ति की किरण जो उसमें से निकलती है, जिसे ये वैज्ञानिक गामा किरण कहते हैं, क्या है और कहाँ जाती है। वर्तमान विज्ञान इससे अनभिज्ञ है।

मनुस्मृति में इस आदि पदार्थ (प्रकृति) के विषय में स्पष्ट लिखा है। उसकी तुलना करनी चाहिए, वर्तमान युग के वैज्ञानिकों के 'न्यूट्रिंज' से। वहाँ कहा है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः।। —मनु. 1-5

अर्थात्—वह आदि पदार्थ अन्धकारभूत (inactive), न जाना जा सकने योग्य (imperceptible) है। युक्ति से उसका वर्णन नहीं हो सकता। (कारण यह कि वह अद्वितीय है। उस जैसा अन्य कोई नहीं है।) वह अविज्ञेय और सर्वत्र सोए हुए की भाँति है।

इस पर भी वैदिक सिद्धान्त यह मानता है कि वह आदि पदार्थ है, क्योंकि शून्य से कुछ भी नहीं बन सकता। यह अणुयुक्त है। इसके अणुओं को परमाणु कहते हैं। यह इसलिए कि यह इसका सबसे छोटा टुकड़ा है। साथ ही इसके प्रत्येक परमाणु में तीन प्रकार के (सत्त्व, रजस् और तमस्) आवेश (charges) साम्यावस्था में हैं।

सांख्य दर्शन में कहा है—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः (1-61) अर्थात् सत्त्व (धन आवेश +), रजस् (ऋण आवेश—) और तमस् (बिना आवेश 0) साम्यावस्था (balanced state) में उपस्थित हैं।

यह आधुनिक विज्ञान अभी नहीं जान सका। जहाँ इसे शून्य (0) कहा है वहाँ कदाचित् यही अभिप्राय है कि जो कुछ वहाँ उस समय है, वह अदृश्य (invisible) है।

शून्य (0) अशुद्ध कथन है। कारण यह कि शून्य से कुछ भी बन नहीं सकता। कुछ तो है। यद्यपि आजकल की अति बलशाली क्षुद्रबीन भी उसे देख नहीं सकी।

वैदिक वैज्ञानिकों के पास सूक्ष्मदर्शिका यन्त्र से भी एक अधिक प्रबल उपकरण था, जिससे वे इस सच्चाई पर पहुँचे थे। वह है अनुमान-प्रमाण। इसके द्वारा ही वह उस सत्य पर पहुँचे थे, जो हम यहाँ लिख रहे हैं।

सत्त्व, रजस् और तमस् को परमाणु के गुण कहा है। यह इस कारण कि गुण गुणी से पृथक् नहीं हो सकता। इनको गुण इस कारण कहा है क्योंकि ये सदा परमाणु के साथ ही रहते हैं।

प्रश्न यह है कि यह किस प्रकार पता चला है? इस विषय में सांख्याचार्य कपिल मुनि इस प्रकार कहते हैं–

समानः प्रकृतेर्द्वयोः।। (सांख्य-1-69)

अर्थात्–दोनों रूपों में प्रकृति समान है।

प्रकृति के दो रूप हैं, सत् और असत्। एक रूप में यह सदा विद्यमान रहती है और दूसरे रूप में यह परिणामी (परिवर्तनशील) है। दोनों रूपों में यह समान है–एक जड़त्व में और दूसरे इसके त्रिगुणात्मक होने में। इसका सत्-रूप हमने ऊपर बताया है। वह यह कि यह त्रिगुणात्मक है। इसमें गुण साम्यावस्था में हैं। दूसरे रूप में यह रूप बदलती रहती है और इसके गुण प्रकट हो रहे हैं। यह माना जाता है कि गुण जब साम्यावस्था में होते हैं तब ये अन्तर्मुखी होते हैं। और जब ये बहिर्मुख हो जाते हैं तो साम्यावस्था भंग हो गई कही जाती है।

तब ये गुण अपने पड़ोस के परमाणुओं से आकर्षण-विकर्षण करने लगते हैं। इससे सृष्टि-रचना आरम्भ हो जाती है। विपरीत गुणों के आकर्षण से परमाणु इकट्ठे (condense) होने लगते हैं। इस विषय में कहा है–

रागविरागयोर्योगः सृष्टिः।। –सांख्य 2-9

राग अर्थात् आकर्षण (attraction) और विराग अर्थात् विकर्षण (repulsion) के कार्य से अनेकानेक प्रकार के परमाणुओं के संयोग (combinations) बनने लगते हैं।

प्रकृति की मूलावस्था में गुणों के अन्तर्मुखी होने के कारण राग-विराग नहीं होता, परमाणु पृथक-पृथक् बने रहते हैं और सृष्टि नहीं होती।

यह पूर्ण प्रक्रिया निम्न चित्रों से प्रकट होगी।

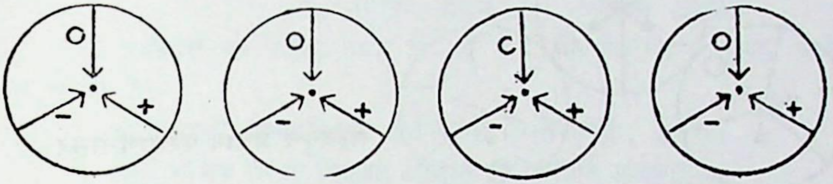

1. गुण जब अन्तर्मुखी होते हैं। यह प्रकृति की साम्यावस्था होती है।

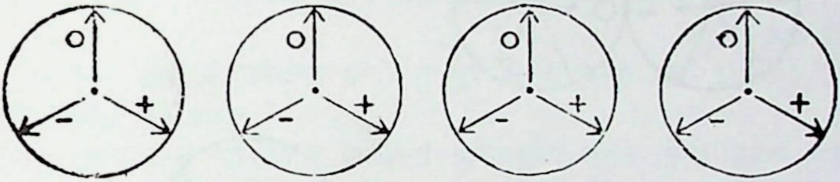

2. साम्यावस्था जब भंग होती है तो गुण बहिर्मुखी हो जाते हैं।

परमाणुओं में गुण बेहिर्मुखी होने पर उनमें परस्पर आकर्षण-विकर्षण होने लगता है और परमाणुओं के संयोग (combinations) बनने लगते हैं। इन संयोगों से क्या बनता है? यह इस प्रकर कहा है–

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्, महतोऽंकारो...

–सांख्य. 1-61

अर्थात्–गुणों के बहिर्मुखी होने से महत् बनता है और महत् से अहंकार बनते हैं। महत् परमाणुओं की वह अवस्था है, जो उनके गुण बर्हिमुख होने से होती है। उस समय प्रत्येक परमाणु पृथक्-पृथक् होता है और वह परमाणु अपने गुणों का चारों ओर प्रसार कर रहा होता है। ये गुण भिन्न-भिन्न दिशाओं में मुख किए होते हैं। यही ऊपर के चित्र सं. 2 में दिखाया गया है।

जब ये गुण अपने आस-पास के परमाणुओं को आकर्षित करने लगते हैं तो परमाणुओं के संयोग बनने लगते हैं। ये संयोग तीन प्रकार के होते हैं। इन संयोगों को अहंकार कहते हैं। अर्थात् अहंकार तीन प्रकार के होते हैं।

इस प्रकार परमाणुओं के तीन प्रकार के संयोग बन जाते हैं। जो रजोगुण प्रधान होते हैं, वे तेजस् अहंकार (electrons) कहाते हैं, जो सत्त्वगुण-प्रधान होते हैं वे वैकारिक अहंकार (protons) कहते हैं और जो तमोगुण-प्रधान होते हैं, वे भूतादि अहंकार (neutrons) कहाते हैं।

अभी तक जो सांख्याचार्य ने बताया है, वह इस प्रकार है–

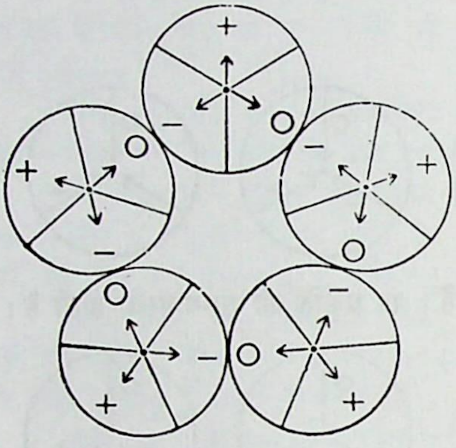

सत्त्वगुण प्रधान परमाणु-समूह

रजोगुण प्रधान परमाणु-समूह

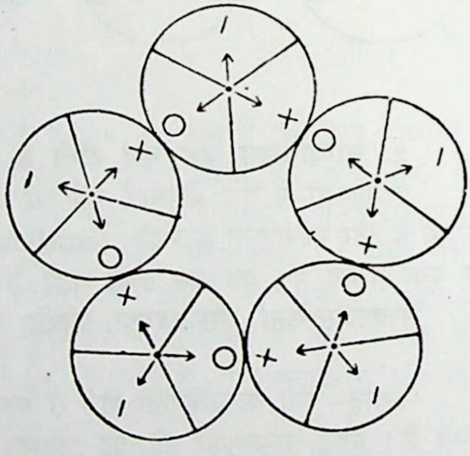

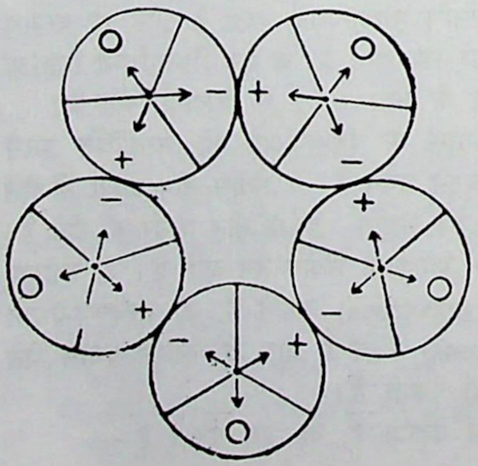

तमोगुण प्रधान परमाणु-समूह

प्रकृति–महान्–	सत्त्वगुण प्रधान	}	वैकारिक अहंकार
	रजोगुण प्रधान		तैजस् अहंकार
	तमोगुण प्रधान		भूतादि अहंकार

इन अहंकारों को वैदिक भाषा में अपः भी कहा है। वेद में इनका वर्णन इस प्रकार है–

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि।
त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्।।

ऋ. 1-163-3,4

इसी सूक्त के उपर्युक्त मन्त्रों से पूर्व के दो मन्त्रों (ऋ. 1-163-1, 2) का भावार्थ इस प्रकार है–

सबसे पहले एक महान् गतिवाला अग्निस्वरूप अर्वन् (तेज) उत्पन्न हुआ और वह त्रित (परमाणुओं) पर अधिष्ठित हो गया। पहले उस पर इन्द्र अधिष्ठित था।

इन दो मन्त्रों के उपरान्त ऊपरवाले दो मन्त्र (ऋ. 1-163-3, 4) हैं।

इनका अर्थ है–तू अर्वन् यम (नियन्त्रण करनेवाला) प्रकाशयुक्त है। गुप्त रूप से संगठित त्रित को, जो साम्यावस्था में है और जो (विमुक्त) पृथक्-पृथक् है, तू उससे तीन बन्धन (संयोग) उत्पन्न करता है।

वे तीन दिव्य-बन्धन (संयोग) अन्तरिक्ष में अपः हुए और इनसे जगत् के अनेकानेक पदार्थ उत्पन्न हुए।

अतः वैदिक विज्ञान यह मानता है कि परमाणुओं में गुण साम्यावस्था में थे। परमाणु तीन-तीन गुणों का गुट्ट था। इसी कारण वह त्रित कहाता है। आगे कहा है कि ये गुट्ट (त्रित) एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् थे। इसी अवस्था को मन्त्र (10-129-3) में सलिल कहा है। इन परमाणुओं पर परमात्मा का तेज (अर्वन) अधिष्ठित हुआ तो तीन प्रकार के दिव्य बन्धन (योग) उत्पन्न हुए। ये तीन अपः हैं। सांख्याचार्य इनको अहंकार कहता है।

आगे कहा है कि इन अहंकारों से जगत् की सृष्टि हुई। इस जगत् में प्राणी और अप्राणी सृष्टि हुई। सांख्याचार्य कहता है–

...अहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं.... –सां.1-61

अर्थात्–अहंकारों से पंच-तन्मात्र-समूह और दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ बनीं। आगे कहा है–

...तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि.... –सां. 1-61

इन तन्मात्र-समूह से स्थूल भूत बने।

यह इस प्रकार दर्शाया जा सकता है–

वैकारिक अहंकार
तैजस् अहंकार } दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ।
भूतादि अहंकार
तैजस अहंकार } पञ्चमहाभूत तन्मात्र – स्थूल महाभूत

यदि इस सबको वर्तमान विज्ञान की भाषा में दर्शाया या प्रकट किया जाए तो यह इस प्रकार होगा–

परमाणु (ultimate particle of matter) सम्भवतः न्यूट्रिंज (neutrinz) हैं, जिनमें के विद्युत्-आवेश (electric charges) एक-दूसरे को निःशेष कर चुके होते हैं।

परमाणु (neutrinz) से तीन प्रकार के कण तैजस् अहंकार (eletrons), वैकारिक अहंकार (protons) और भूतादि अहंकार (neutrons) बनते हैं।

तदनन्तर तैजस् अहंकार (electrons) की सहायता से वैकारिक अहंकार से दस इन्द्रियाँ बनती हैं और तैजस् अहंकार की सहायता से भूतादि अहंकार से सूक्ष्म महाभूत बनते हैं। इन्हें ऐटम (atoms) अर्थात् परिमण्डल कहते हैं।

इसके उपरान्त इन सूक्ष्म महाभूतों से, तन्मात्र-समूह की सहायता द्वारा स्थूल महाभूत बनते हैं।

इस स्थान पर सूक्ष्म महाभूत के अर्थ समझ लेने चाहिएँ। हमने ऊपर बताया है कि तैजस् अहंकार और भूतादि अहंकार के संयोग से पंच महाभूत बनते हैं–पहले सूक्ष्म और पीछे स्थूल। हमने यह भी बताया है कि तीनों प्रकार के अहंकारों के समूह को ऐटम (atoms) अर्थात् परिमण्डल कहते हैं। जब तक एक-एक परिमण्डल अथवा अणु (molecular) रूप में रहते हैं, तब तक तो ये सूक्ष्म कहाते हैं, परन्तु ज्यों ही इनके बड़े-बड़े समूह अर्थात् ढेले बन जाते हैं, तब अथवा जब दो से अधिक प्रकार के परिमण्डल अथवा अणु मिलकर संयुक्त अणु (compound molecule) बना लेते हैं, तब वे स्थूल महाभूत्र कहाते हैं।

उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। हाइड्रोजन के ऐटम में कुछ इलैक्ट्रोन हैं जो केन्द्र में प्रोटोन और न्यूट्रोन के चारों ओर चक्कर काट रहे हैं। प्रोटोन पर धन-आवेश होता है और इलैक्ट्रोन पर ऋण-विद्युत् का आवेश होता है। कितने इलैक्ट्रोन हैं और कितने प्रोटोन हैं, कहना कठिन है। हाँ, यह निश्चय है कि प्रोट्रोन की संख्या इलैक्ट्रोन से अधिक है। इस बात से सिद्ध होता है कि समूचे ऐटम में एक ऐसे ऐटम को आकर्षित करने की सामर्थ्य होती है जिसमें एक इलैक्ट्रोन फालतू है।

क्लोरीन के ऐटम में एक इलैक्ट्रोन अतिरिक्त होता है। इस कारण एक हाइड्रोजन का ऐटम क्लोरीन के ऐटम को आकर्षित कर सकता है। इसी प्रकार

दो हाइड्रोजन के ऐटम एक ऑक्सीजन के ऐटम को आकर्षित कर सकते हैं। ऑक्सीजन में दो इलैक्ट्रोन अतिरिक्त होते हैं।

हाइड्रोजन में एक के अतिरिक्त शेष जितने भी प्रोटोन हैं, वे सब-के-सब इलैक्ट्रोन के आवेशों से निःशेष (neutralize) हो रहे होते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के ऐटम परस्पर, इन अतिरिक्त इलैक्ट्रोन और अतिरिक्त प्रोट्रोनों के परस्पर आकर्षण के कारण संयुक्त होकर जगत् के अनेकानेक पदार्थ बनाते हैं।

एक इलैक्ट्रोन पर जितना विद्युत का आवेश होता है उतना ही उलटे प्रकार का आवेश एक प्रोटोन पर होता है, परन्तु दोनों में द्रव्यमान (mass) बराबर नहीं होता। एक प्रोटोन के द्रव्यमान से एक इलैक्ट्रोन का द्रव्यमान लगभग 1500 गुणा कम होता है।

सांख्य दर्शन में कहा है–

लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम्।। –सां. 1-128

इसका अभिप्राय यह है कि अहंकार छोटे-बड़े हैं, परन्तु उनमें गुण जो उन पर आवेश (charge) के कारण होता है, बराबर-बराबर होता है।

क्योंकि न्यूट्रोन और प्रोटोन भी बराबर द्रव्यमान रखते हैं, इस कारण एक परिमण्डल (atom) का द्रव्यमान प्रायः वही होता है जो उसके केन्द्र में उपस्थित प्रोटोन और न्यूट्रोन का द्रव्यमान होता है। इलैक्ट्रोनों का द्रव्यमान तो नगण्य होता है।

इसी बात का वर्णन वर्तमान विज्ञान इस प्रकार करता है–

A particular atomic species or `nuclide' (the term was coined by T.P. Kohman, in 1947) is thus characterized by its number of Protons `Z', and its number of neutrons. `N' The sum of these two integers is the mass number A.

(Ency. Brit. (1968) 2-711-b)

एक परिवार के ऐटम (जिसे सर्वप्रथम टी. पी. कोहमैन ने 'न्यूक्लाइड' कहा है), को उसमें की प्रोटोनों की संख्या से और न्यूट्रोनों की संख्या से जाना जाता है। इन दो संख्याओं के जोड़ के लगभग बराबर ऐटम का द्रव्यमान कहा जाता है। इसे (mass number) भी कहते हैं।

The actual mass of an atom is thus the result of combining Z protons, N neutrons and Z orbital electrons...

किसी ऐटम का ठीक द्रव्यमान बराबर है प्रोटोन की Z संख्या, + न्यूट्रोन की N संख्या और Z इलैक्ट्रोन की संख्या।

वर्तमान विज्ञान ने ऐटम के धर्म (गुण अर्थात् valency) के विचार से

और ऐटम के द्रव्यमान के विचार से एक सूची तैयार की है। इस सूची में 103 के लगभग ऐटम परिवार हैं। यह सूची हम नीचे दे रहे हैं।

वैदिक विज्ञान के अनुसार भी ऐटमों (परिमण्डलों) का एक विभाजन किया गया है। वह भी हम बताएँगे और दोनों के गुण-दोषों का भी वर्णन करेंगे।

एक परिमण्डल-परिवार (atomic family) को रासायनिक तत्त्व (elements) भी कहते हैं। वर्तमान विज्ञान ने परिमण्डल-परिवार एक सौ तीन प्रकार के गिनाए हैं।

नीचे दी गई सूची में क्रमांक के अतिरिक्त ऐटम (परिमण्डल) का प्रचलित नाम, उसका प्रचलित चिह्न, परिमण्डल-भार (atomic weight), कार्बन को 12 मानकर लिए गए हैं। इनसे अगलें स्तम्भ में परिमण्डलों के द्रव्यमान (atomic mass) लिखे गए हैं। इस स्तम्भ में देखा जाएगा कि एक-एक परिमण्डल के सामने कई-कई द्रव्यमान लिखे गए हैं। एक स्तम्भ में 'पीरिओडिक टेबल' में परिमण्डल की संख्या भी है।

क्र.सं.	परिमण्डलों के नाम	चिह्न	परिमण्डल भार	परिमण्डल द्रव्यमान	परिमण्डल संख्या
1.	ऐक्टिनियम	Ac.	-	-	89
2.	एलुमीनियम	Al.	26.9815	-	13
3.	अमेरिकियम	Am	-	-	95
4.	ऐण्टिमनी	Sb.	121.75	121.123	51
5.	आरगन	Ar.	39.942	36, 38, 40	18
6.	आरसैनिक	As.	74. 9216	75	33
7.	ऐस्टेटाइन	St.	-	-	85
8.	बेरियम	Ba.	137.34	130, 132, 134, 135, 136,137,138	56
9.	बर्केलियम	Bk.	-	-	97
10.	बरिलियम	Bc.	9.0122	-	4
11.	बिस्मुथ	Bi.	208.980	209	83
12.	बोरोन	B.	10.811	10,11	5
13.	ब्रोमीन	Br.	79.909	79, 81	35
14.	कैडमियम	Cd.	112.40	106,108,110, 111, 112, 113, 114, 116,	48

15.	कैलशियम	Ca.	40.08	40,42,43,44, 46, 48, 12,	20
16.	कैलिफोर्नियम	Cf.	-	-	98
17.	कार्बन	C.	12.01115	12, 13	6
18.	सीरियम	Ce.	140.12	136, 138, 140, 142,	58
19.	सीजियम	Cs.	132.905	133	55
20.	क्लोरीन	Cl.	35.453	35, 37	17
21.	क्रोमियम	Cr.	51. 996	50,52,53,54	24
22.	कोबाल्ट	Co.	58.9332	59	27
23.	कॉपर (तांबा)	Cu.	63.54	63, 65	29
24.	क्यूरियम	Cm.	-	-	96
25.	डिस्प्रोजियम	Dy.	162.50	156, 158, 160; 161, 162, 163, 164	66
26.	इन्स्टिनियम	Es.	-	-	99
27.	इर्बियन	Er.	167.26	162, 164, 166, 167,168,170	68
28.	यूरोपियम	Eu.	151.96	151, 153	63
29.	फर्मियम	Fm.	-	-	100
30.	फ्ल्युओरीन	F.	18.9984	19	9
31.	फ्रांसियम	Fr.	-	-	87
32.	गैडोलिनियम	Gd.	157.25	152, 154, 155, 156, 157, 158, 160	64
33.	गेलियम	Ga.	69.72	69, 71	31
34.	जरमेनियम	Ge.	.72.59	70, 72, 73, 74, 76	32
35.	गोल्ड (सोना)	Au	196.967	197	79
36.	हफनियम	Hf.	178.49	174, 176, 177, 178, 179, 180	72
37.	हीलियम	He.	4.0026	3, 4	2
38.	होलमियम	Ho-	164.930	165	67

39.	हाइड्रोजन	H.	1.00797	1	1
40.	इण्डियम	In.	114.82	113, 115	49
41.	आयोडीन	I.	126.9044	127	53
42.	इरीडियम	Ir.	192.2	191, 193	77
43.	आयरन	Fe.	55.847	54, 56, 57, 58	26
44.	क्रिप्टॉन	Kr.	83.80	78, 80, 82, 83, 84, 86	36
45.	लैन्थेनम	La.	138.91	138, 139	57
46.	लॉरैन्सियम	Lw.	-	-	103
47.	लैड (सीसा)	Pb.	207.19	204, 206, 207, 208	82
48.	लीथियम	Li.	6.939	6, 7	3
49.	ल्युटेशियम	Lu.	174.93	175, 176	71
50.	मैगनीशियम	Mg.	24.312	24, 25, 26	12
51.	मैंगनीज	Mn.	54.9380	55	25
52.	मैण्डेलेवियम	Md.	-	-	101
53.	मर्करी (पारा)	Hg.	200.59	196, 198, 199, 200, 201, 202, 204	80
54.	मॉलिब्डिनम	Mo.	95.94	-	42
55.	नियोडिमियम	Nd.	144.24	142, 143, 144, 145, 146, 148, 150	60
56.	निओन	Ne.	20.183	20, 21, 22	10
57.	नैपच्यूनियम	Np.	-	-	93
58.	निक्कल	Ni.	58.71	58, 60, 61, 62, 64	28
59.	नियोबियम	Nb.	92.906	93	41
60.	नाइट्रोजन	N-	14.0067	14, 15	7
61.	नोबिलियम	No.	-	-	102
62.	ऑसमियम	Os.	190.2	184, 186, 187, 188, 189, 190, 192	76

63.	ऑक्सीजन	O	15.9994	16, 17, 18	8
64.	पैलेडियम	Pd.	106.4	102, 104, 105, 106, 108, 110	46
65.	फासफोरस	P.	30.9738	31	15
66.	प्लाटिनम	Pt.	195.09	190, 192, 194, 195, 196, 198	78
67.	प्लूटोनियम	Pu.	-	-	94
68.	पोलोनियम	Po.	-	-	84
69.	पोटाशियम	K.	39.102	39, 40 41	19
70.	प्रेजिडिमियम	Pr.	140. 907	141	59
71.	प्रोमीथियम	Pm.	-	-	61
72.	प्रोटैक्टिनियम	Pa.	-	-	91
73.	रेडियम	Ra.	-	-	88
74.	रैडोन	Rn.	-	-	86
75.	रीनियम	Re.	186.2	185, 187	75
76.	रोडियम	Rh.	102.905	103	45
77.	रुबीडियम	Rb.	85.47	85, 87	37
78.	रुथीनियम	Ru.	101.07	96, 98, 99, 100, 101, 102, 104	44
79.	समेरियम	Sm.	150.35	144, 147, 148, 149, 150, 152, 154	62
80.	स्कोण्डियम	Sc.	44.956	45	21
81.	सिलीनियम	Se.	78.96	74, 76, 77, 78, 80, 82	34
82.	सिलिकॉन	Si.	28.086	28, 29, 30	14
83.	सिलवर	Ag.	107.870	107, 109	47
84.	सोडियम	Na.	22.9898	23	11
85.	स्ट्रॉन्शियम	Sr.	87.62	84, 86, 87, 88	38
86.	सल्फर	S.	32.064	-	16
87.	टैण्टेलम	Ta.	180.948	180, 181	73

88.	टैक्नीशियम	Tc.	-	-	43
89.	टेलूरियम	Te.	127.60	120, 122, 123, 124, 125, 126, 128, 130	52
90.	टर्बियम	Tb.	158.924	159	65
91.	थेलियम	Tl.	204.37	203, 205	81
92.	थोरियम	Th.	232.038	232	90
93.	थूलियम	Tm.	168.934	169	69
94.	टिन (रांगा)	Sn.	118.69	112, 114, 115, 116, 117, 118, 119, 120, 122, 124	50
95.	टिटानियम	Ti.	47.90	46, 47, 48, 49, 50	22
96.	टंगस्टन	W.	183.85	180, 182, 183,184,186	74
97.	यूरेनियम	U.	238.03	234,235,238	92
98.	वनेडियम	V.	50.942	50, 51	23
99.	ऐक्जिीनोन	Xe.	131.30	124, 126, 128, 129, 130, 131, 132, 134, 136	54
100.	येटर्बियम	Yb.	173.04	168, 170, 171, 172, 173, 174, 176	70
101.	यैट्रियम	Y-	88.905	88	39
102.	जिंक (जस्त)	Zn.	65. 37	67, 68, 70	30
103.	जरकोनियम	Zr.	91.22	89, 90, 91, 92, 94, 96	40

इस सारिणी* में हमने 103 पदार्थों के नाम दिए हैं। ये रासायनिक तत्त्व

* यह सारिणी 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के 1968 के संस्करण भाग-2, पृष्ठ 723 से ली गई है।

(chemical elements) कहते हैं। इनमें से प्रत्येक पदार्थ के परिमण्डलीय (रासायनिक) गुण (chemical properties) समान कहे जाते हैं। रासायनिक गुण परिमण्डल पर अतिरिक्त आवेश (excessive charge) पर निर्भर करता है। क्योंकि आवेश (charges) दो ही प्रकार के होते हैं, धन (+) और ऋण (–), इस कारण ये 103 प्रकार के परिमण्डल दो श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। एक वे जिन पर तैजस् अहंकार (–) आवेश फालतू होता है, और दूसरी श्रेणी के परिमण्डल वे हैं जिन पर धन (+) आवेश फालतू है।

फालतू से हमारा अभिप्राय है कि एक परिमण्डल में तैजस् अहंकार और वैकारिक अहंकार परस्पर निःशेष नहीं कर रहे होते। इस कारण परिमण्डलों पर फालतू आवेश रह जाता है और इस फालतू आवेशों के कारण परिमण्डल परस्पर संयुक्त हो सकते हैं। इनके कारण संयोग, रासायनिक संयोग (chemical combination) कहाता है। इन संयोगों के कारण संसार के अनेकानेक पदार्थ बन गए हैं।

ये 103 प्रकार के परिमण्डल ही संसार के सब पदार्थ बनाते हैं। इस सारिणी में यह तो नहीं बताया कि किस-किस परिमण्डल पर किस प्रकार का आवेश फालतू है, इस पर भी यह है।

इसी सारिणी में नाम के अगले स्तम्भ में इनके चिह्न दिए हैं। ये इन पदार्थों के नामों के संक्षेप हैं। लिखने में सुभीता के लिए इनका विचार किया गया है।

उदाहरण के रूप में जिंक है। इसका अंग्रेजी भाषा में नाम जिंक (Zinc) है और इसका संक्षेप Zn कर दिया गया है। इसी प्रकार हाईड्रोजन का सांकेतिक और संक्षिप्त नाम है 'H'; ऑक्सीजन का 'O'।

सारिणी के अगले स्तम्भ में परिमण्डल-संख्या दी गई है। इसका अभिप्राय समझने के लिए एक अन्य प्रकार की सारिणी तैयार की गई है। इसको पीरिऑडिकल टेबल (periodical table) कहते हैं। इसमें दो विचार से पदार्थ रखे गए हैं। एक तो इस विचार से कि इस पदार्थ के परिमण्डल में एक तैजस् अहंकार अथवा दो, अथवा और अधिक तैजस्, अथवा वैकारिक अहंकार फालतू हैं और दूसरे परिमण्डल के भार का भी विचार किया गया है। उस सारिणी में इस पदार्थ की संख्या कौन-सी है, यह देखा जाएगा। रासायनिक तत्त्वों की संख्या तो 103 है, परन्तु सारिणी में अधिक-से-अधिक संख्या 92 है। इसका यह अभिप्राय है कि इस सारिणी के एक-एक कक्ष में कई स्थान पर एक से अधिक रासायनिक तत्त्व हैं।

इस सारिणी (पूर्व-पृष्ठ) में अगला स्तम्भ है परिमण्डल भार का। यह भार ग्राम्ज में नहीं है, कारण यह कि इनके लिए ग्राम एक बहुत बड़ा बाट (measure) है। परिमण्डलों के भार को जानने को लिए हाईड्रोजन के एक परिमण्डल को इकाई मानकर शेष परिमण्डलों का भार मालूम किया गया है। अब एक नई

प्रक्रिया भी निर्माण की गई है। कार्बन को 12 भार वाला परिमण्डल मानकर, अन्य परिमण्डलों का भार उसकी तुलना में प्रतीत किया गया है।

इस सारिणी में अन्तिम स्तम्भ है परिमण्डल-द्रव्यमान। द्रव्यमान से अभिप्राय है ऐटम में उपादान (material)। यह हम बता ही चुके हैं कि किसी परिमण्डल का द्रव्यमान उस परिमण्डल में न्यूट्रोन की संख्या (N), प्रोटोन की संख्या (P) और उतनी ही संख्या में इलैक्ट्रान (E) का जोड़ होता है।

इस प्रकार वर्तमान वैज्ञानिक इलैक्ट्रोन, प्रोटोन इत्यादि के आधार पर पदार्थों की गणना करते हैं।

वैदिक विज्ञान तैजस् अहंकार, वैकारिक अहंकार और भूतादि अहंकार के सामूहिक स्वभाव के विचार से पदार्थों की गणना पाँच करता है। जगत् के सब पदार्थों को इन पाँच पदार्थों से बना मानते हैं। यह कहा जाता है कि अहंकारों से पहले ये पाँच प्रकार के पदार्थ बनते हैं और फिर उन पाँच प्रकार के पदार्थों से जगत् के सब पदार्थ बनते हैं।

इन पदार्थों के नाम हैं : 1. पृथिवी, 2. जल, 3. वायु 4. अग्नि और 5. आकाश।

पृथिवी, जल इत्यादि इन नामों से एक भ्रम उत्पन्न हो जाता है। भ्रम यह है कि इन नामों वाले कुछ अन्य पदार्थ भी हैं। पृथिवी भूमि (earth) को भी कहते हैं। इसी प्रकार जल 'पीनेवाले पानी' (water) को भी कहते हैं। परन्तु सृष्टि-रचना के सन्दर्भ में इन शब्दों के अर्थ विशेष हैं। हम नीचे एक-एक के अर्थ समझाएँगे।

हम आकाश से आरम्भ कर रहे हैं। सामान्य भाषा में आकाश का अर्थ है दिन के प्रकाश में अपने सिर के ऊपर नीले रंग की छत-सी जो दिखाई देती है। सृष्टि-रचना के सन्दर्भ में आकाश से यह अभिप्राय नहीं है। हमने निर्दिष्ट सारिणी में यह दर्शाया है कि उसमें जो 103 रासायनिक तत्त्व बताए हैं उन सब में एक, दो अथवा अधिक तैजस् अहंकार अथवा वैकारिक अहंकार परस्पर निःशेष करने से अतिरिक्त रह जाते हैं। इन अतिरिक्त अहंकारों से परिमण्डल परस्पर संयुक्त होकर संयुक्त अणु (compound molecules) बनाते हैं जिनके एकत्रित हो जाने से भिन्न-भिन्न पदार्थ बनते हैं। क्योंकि आकाश के परिमण्डल में अहंकारों का ऐसा संयोग होता है कि उनमें कोई अहंकार (तैजस् अथवा वैकारी) फालतू नहीं होता। इस कारण यह रासायनिक दृष्टि से एक मृत परिमण्डल तत्त्व होता है। अभिप्राय यह है कि आकाश के परिमण्डल में तैजस् अहंकार, वैकारिक अहंकार और भूतादि अहंकार इस ढंग से मिले होते हैं कि इनमें के तैजस् अहंकार तथा वैकारिक अहंकार के परस्पर निःशेष हो जाने (neutralization) के उपरान्त रासायनिक कार्य के लिए अतिरिक्त आवेश (surplus charge) नहीं होता। प्रश्न उपस्थित होता है कि इस प्रकार के परिमण्डलों का इस जगत् में क्या प्रयोजन होता है? यह हम आगे चलकर समझाने का यत्न करेंगे। यहाँ तो इतना ही कहा जा सकता है कि आकाश के

परिमण्डलों को अपनी इस विशेषता के लिए एक पृथक् श्रेणी में रखा गया है।

परिमण्डलों की दूसरी श्रेणी है अग्नि। सामान्य भाषा में अग्नि से अभिप्राय है लकड़ी इत्यादि के जलने से उत्पन्न होनेवाली लपटों के रूप में उष्मा। सृष्टि-रचना के सन्दर्भ में अग्नि परिमण्डलों की एक श्रेणी का नाम है, जो अग्नि (energy) उगलते हैं। ये स्वतः विखण्डित होनेवाले परिमण्डल हैं। इनको वर्तमान वैज्ञानिक रेडियो-ऐक्टिव तत्त्व कहते हैं। इनके उदाहरण रेडियम, यूरेनियम इत्यादि हैं।

परिमण्डलों की तीसरी श्रेणी में वे परिमण्डल आते हैं जो सामान्य तापक्रम पर परस्पर आकर्षित नहीं होते और खुले छोड़ दिए जाने पर वहाँ तक फैल जाते हैं जहाँ तक इनको फैलने को स्थान मिलता है। इनको वायु कहा जाता है। सामान्य भाषा में वायु का अर्थ उस पदार्थ से है जिसे पवन, श्वास लेने और छोड़नेवाली हवा कहते हैं। सृष्टि-रचना के सन्दर्भ में ये उन परिमण्डलों के समूह को कहते हैं, जो अपनी किसी विशेषता के कारण एक-दूसरे के साथ बँधे नहीं रह सकते।

साँस लेनेवाली हवा में भी यही गुण है। हाईड्रोजन ऑक्सीजन इत्यादि हवाएँ भी ऐसी ही होती हैं। यदि इनको किसी बन्द स्थान अथवा पात्र में रोक न रखें तो ये, जहाँ तक इनको स्थान मिलता है फैल जाती हैं। इसको अंग्रेजी में 'गैसियस' (gasseous) अवस्था अर्थात् वायवी अवस्था कहते हैं।

वर्तमान विज्ञान में इसे उपादान (matter) की एक अवस्था कहते हैं। यह ठीक है, इस पर भी इसमें के परिमण्डलों अथवा अणुओं की अवस्था विशेष के कारण ही यह होती है। वर्तमान विज्ञानवेत्ता यह मानता है कि किसी वायु के ऐटम (परिमण्डल) अथवा मॉलिक्यूल (संयुक्त अणु) अपने केन्द्र पर कम्पित हो रहे होते हैं। इनका कम्पन तापक्रम के बढ़ने से बढ़ जाता है। वैदिक विज्ञान में यह, इसे कम्पन कहें अथवा कुछ अन्य, परिमण्डल के अपने किसी गुण के कारण माना जानता है। वायु की अवस्था में सामान्य तापक्रम पर जलों की अवस्था से यह गुण अधिक पाया जाता है। और जलों की अवस्था में पार्थिव पदार्थों से अधिक पाया जाता है।

अतः वैदिक विज्ञान उपादान (matter) की तीन अवस्थाएँ नहीं मानता वरन् पाँच मानता है और इनको किसी प्रकार के बाहरी प्रभाव के कारण न मान परिमण्डल की अपनी बनावट के साथ सम्बन्धित मानता है। परिमण्डलों की इन पाँच श्रेणियों को पंच महाभूत कहते हैं। ये पंच महाभूत हैं आकाशीय (ethereal), आग्नेय (radio-active), वायवी (gasseous), जलीय (liquids) और पार्थिव (solids)।

सांख्य यह मानता है कि परिमण्डल अहंकारों से बनते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ये इलैक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन से बनते हैं। यह अब देख लिया गया है कि पूर्वांकित रासायनिक तत्त्वों की सूची में जो 103 प्रकार के तत्त्व हैं वे सब इलैक़्ट्रोन इत्यादि कणों से ही बने हैं।

वैदिक विज्ञान और वर्तमान विज्ञान में अन्तर भी है। वह अन्तर यह है कि वैदिक विज्ञान परिमण्डलों की एक पाँचवीं प्रकार भी मानता है। इस प्रकारके परिमण्डलों में किसी प्रकार का अतिरिक्त (surplus) आवेश (charge) नहीं होता। वे किसी भी अन्य प्रकार के परिमण्डल से संयुक्त हो अणु नहीं बनाते।

वर्तमान विज्ञान ने परिमण्डलों को श्रेणियों में बाँटने का यत्न किया है। एक सारिणी उन्होंने परिमण्डल-भार (atomic weight) के अनुसार बनाने का यत्न किया है। उसमें अनेक विकृतियाँ हैं। देखा गया है कि भिन्न-भिन्न भार के परिमण्डल एक ही प्रकार के रासायनिक गुण रखने वाले मिलते हैं। फिर इन वैज्ञानिकों ने परिमण्डलों की, अतिरिक्त इलैक्ट्रोन अथवा प्रोटोन के विचार से सारिणी बनाने का यत्न किया। इस सारिणी को वे 'पीरिऑडिकल टेबल' कहते हैं। यह भी दोषरहित नहीं बन सकी। कारण यह कि एक-एक परिमण्डल कई-कई प्रकार से दूसरे परिमण्डलों को आकर्षित करने के गुण रखता है। इसे वर्तमान विज्ञान में परिमण्डल की 'वेलैंसी' कहते हैं। उदाहरण के रूप में कभी तो लौहपरिमण्डल दो वेलैंसी (two valency) वाला व्यवहार करता है और कभी तीन अथवा पाँच वेलैंसी वाला। अतः यह तो स्पष्ट है कि 'पीरिऑडिक टेबल' दोषरहित नहीं बन सकी। परिमण्डल द्रव्यमान (mass number) के विचार से भी रासायनिक तत्त्वों की सारिणी ठीक नहीं बन सकती। एक ही द्रव्यमान वाले परिमण्डल भिन्न-भिन्न रासायनिक गुण वाले देखे गए हैं। उदाहरण के रूप में बेरियम के एक आइसोटोप का परिमण्डल द्रव्यमान 136, 138 है और सीरियम के परिमण्डल के भी इन्हीं द्रव्यमान वाले आइसोटोप हैं। इसी प्रकार क्रोमियम के आइसोटोप्स 50, 52, 53, 54 द्रव्यमान वाले हैं तो लोहे के भी आइसोटोप्स 54 द्रव्यमान वाले हैं।

अतः यह मानना पड़ेगा कि वर्तमान विज्ञान की ये सारणियाँ परिमण्डलों के स्वभाव को जानने का एक भद्दा प्रयास ही है। इससे लाभ तो हुआ है। इस भद्दे प्रयास से भी अनेकानेक रासायनिक गुणों का अनुमान लगाया जा सका है और कई प्रकार के नए रासायनिक पदार्थों का आविष्कार किया जा सका है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इनसे परिमण्डल के वास्तविक स्वभाव (nature) के ज्ञान में कुछ अधिक सीमा तक पता चला है।

कुछ भी हो। वैदिक विज्ञान मानता है कि अपाः से पूर्ण चलायमान जगत् बना है। अपाः का अभिप्राय अहंकार है और अहंकारों को परिमण्डलीय कण (atomic particles) कहते हैं। वैदिक विज्ञान के चार भूत–पार्थिव, जलीय, वायवीय और आग्नेय तो वर्तमान विज्ञान के 103 रासायनिक तत्त्व ही हैं। केवल आकाश महाभूत इन 103 में नहीं है। वह इनसे पृथक् है। वह ऐसा तत्त्व है जिसे अरासायनिक कहा जा सकता है।

चतुर्थ अध्याय

विशेष-अविशेष

सांख्य दर्शन में एक सूत्र है...

अविशेषाद्विशेषारम्भः।। सांख्य 3-1

अर्थात्—अविशेष से विशेष का आरम्भ होता है।

अविशेष रचना-क्रम में उन पदार्थों को कहते हैं जिनमें जगत् की विशेषताएँ उपस्थित नहीं होतीं और विशेष उन पदार्थों को कहते हैं, जिनमें जगत् की विशेषताएँ उपस्थित हों।

जगत्, चलायमान पदार्थ-समूह जिसे 'गैलेक्सी' भी कहा जा सकता है, का दूसरा नाम है। जगत् की विशेषताएँ हैं रूप (form), रस (taste), गन्ध (smell), स्पर्श (touch) और शब्द (sound)। ये ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि जगत् इन्द्रियों का विषय है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि विशेष वे पदार्थ हैं जिनका ज्ञान इन्द्रियों से हो सकता है। इन्द्रियों से अभिप्राय इन्द्रियों के साथ-साथ वे सब उपकरण भी हैं जिनका विज्ञान ने आविष्कार किया है अथवा कभी आविष्कार कर सकता है और जो इन्द्रियों की सहायता करते हैं। इसमें युक्ति यह है कि उपकरण बिना इन्द्रियों की सहायता के कुछ भी पता नहीं कर सकते। वास्तव में ये इन्द्रियाँ ही हैं जो देखती, सुनती, सूँघती, चखती तथा स्पर्श करती हैं, उपकरण नहीं। इन्द्रियाँ स्वतः देखती इत्यादि हैं अथवा किसी अन्य की शक्ति से देखती हैं, वह आगे चलकर बताएँगे। यहाँ इतना बताने से ही अभिप्राय है कि उपकरण देखते इत्यादि नहीं हैं। इन्द्रियाँ ही देखती इत्यादि हैं।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि सृष्टि-क्रम में कुछ पदार्थ ऐसे बनते हैं जो इन्द्रियों से नहीं जाने जाते। वे अविशेष कहाते हैं। वे क्यों नहीं जाने जा सकते? इस विषय में सांख्य कहता है कि वे अति सूक्ष्म होने से नहीं जाने जा सकते (सांख्य 1-109)। आदि प्रकृति तो अव्यक्त होने से अविशेष है। यह इन्द्रियों से न जानने योग्य पदार्थ है। इसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द गुण नहीं

हैं। प्रकृति से महत् और महत् से अहंकार बनने तक प्रकृति के परिणाम अव्यक्त हैं। अतः अविशेष हैं। अहंकार से परिमण्डल बनते हैं। पंच महाभूत बनते हैं और साथ ही इनसे तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। रूप, रस, गन्धादि विशेषताएँ तो पंच महाभूतों से ही उत्पन्न होती हैं। इस कारण पंचमहाभूत और इनसे जो पदार्थ बनते हैं वे रूप, रस, गन्धादि विशेषताओं से युक्त होते हैं। अतः ये विशेष हैं।

सृष्टि-क्रम में इनको ऐसे कहा गया है—

प्रकृति—महत्—अहंकार—तन्मात्र (यहाँ तक ये अविशेष हैं क्योंकि रूपादि गुण इनमें नहीं पाए जाते।)

इन अविशेषों में रूपादि गुण कैसे आते हैं? इस विषय में वैशेषिक दर्शन इस प्रकार कहता है—

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः।।

(4-1-7)

महत् में द्रव्यत्व के होने पर भी रूप संस्कार (रूप, रस, गन्धादि) न देखे जाने से वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता।

इसका अभिप्राय यह है कि महदादि में द्रव्यत्व (material) तो है, परन्तु उनमें रूप-गन्धादि नहीं है। इसका कारण यह है कि इनमें वायु का अभाव है। वायु 'मध्य-स्थाना' देवता है। इसे यास्क ने वायुर्वातिः **(वायुर्वातेः वेतेर्वा स्याद् गति कर्मणः। निरु. 10-1)** कहा है।

अर्थात् वायु 'वा' धातु से अथवा 'वे' धातु से गति अर्थ वाला है। अभिप्राय यह है कि वायु से गति उत्पन्न होती है।

मूल प्रकृति के परमाणु निश्चल हैं। अतः उनमें वायु कार्य नहीं कर रही। इसी प्रकार परमाणुओं में गुणों की साम्यावस्था भंग होती है। तब भी इनमें गति उत्पन्न नहीं होती। साम्यावस्था भंग होने पर पड़ोस के परमाणुओं से जोड़-तोड़ उत्पन्न होती है।

परन्तु अहंकारों में से तन्मात्र उत्पन्न होती हैं। ये शक्तियाँ हैं और ये जब तैजस् अहंकार, भूतादि और वैकारिक अहंकार के चारों ओर घूमने लगती हैं तो गति के दर्शन होते हैं। इस गति के साथ ही रूपादि गुण भी प्रकट होते हैं।

तन्मात्र के विषय में सांख्य दर्शन कहता है :—

स्थूलात्पञ्चतन्मात्रस्य।। (सां. 1-62)

अर्थात्—स्थूल पदार्थों को देखकर उन पाँच शक्तियों का ज्ञान होता है, जिनसे सूक्ष्म परमाणु एकत्रित होकर स्थूल पदार्थों (जगत्) का निर्माण होता है।

ये पाँच शक्तियाँ वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार कही जा सकती हैं—

(1) परिमण्डल-अन्तर्गत (inter-atomic) शक्ति। इससे ही इलैक्ट्रोन, न्यूट्रोन और प्रोटोन के चारों ओर घूमने लगते हैं। इसी शक्ति के द्वारा परमाणुओं से परिमण्डल (atoms) बनते हैं।

(2) दूसरा तन्मात्र वह है जिससे परिमण्डल अथवा अणु-अणु परस्पर आकर्षित हो संयुक्त पदार्थ (compounds) बनाते हैं। इसे रासायनिक शक्ति कहते हैं।

(3) एक अन्य तन्मात्र शक्ति है जिससे अणु (molecules) संयुक्त होकर डलियाँ और ढेले बनते हैं। इसे अंग्रेजी में 'कोहीजन' (cohesion) कहते हैं। इस शक्ति के न्यूनाधिक होने से पदार्थ वायवी, जलीय एवं पार्थिव होते हैं। इसे वैज्ञानिक भाषा में (molecular dynamic) कहते हैं।

(4) भू-आकर्षण भी एक तन्मात्र के कारण है।

(5) पाँचवाँ तन्मात्र है जिसे चुम्बकीय (magnetic) शक्ति कहते हैं।

ये पाँच शक्तियाँ हैं, जिनसे परमाणु भिन्न-भिन्न प्रकार से संयुक्त होकर जगत् के स्थूल पदार्थ बनते हैं।

जब प्रथम तन्मात्र अपना कार्य करना आरम्भ करता है तो तैजसादि अहंकारों में गति उत्पन्न होती है और परिमण्डल बनते हैं। तब रूप, रस, गन्धादि गुण प्रकट होने लगते हैं।

यही वैशेषिक दर्शन में कहा है कि महदादि में द्रव्यत्व तो है। अर्थात् वे material-objects तो हैं, परन्तु गति न होने के कारण उनमें रूप-संस्कार दिखाई नहीं देते।

इसी कारण हमने कहा है कि जब परिमण्डल बनता है तो इलैक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन से सम्बद्ध हो जाता है और फिर वायु के कारण गतिशील हो जाता है तब रूप की उपलब्धि होती है।

इस रूप-संस्कार के साथ ही रस, गन्धादि भी उत्पन्न हुए हैं। अतः वैशेषिक दर्शन कहता है :–

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम्।।

(वै. द. 4-1-9)

उस (वायु) से ही रस, गन्ध, स्पर्श गुणों में कहा गया समझना चाहिए।

इसका अर्थ यह है कि अविशेष में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं होते। ये सब विशेषों में उत्पन्न होते हैं वायु के कारण। वायु गति उत्पन्न करता है और उसी से ये सब उत्पन्न होते हैं।

वैदिक विज्ञान ऐसा मानता है कि वायु से गति उत्पन्न होती है। वायु वह शक्ति है जो अहंकारों से उत्पन्न होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जब अहंकारों में आकर्षण-विकर्षण (attraction-repulsion) उत्पन्न होता है तो गति उत्पन्न होती है। अतः यही वायु है।

इस वायु से जब पदार्थ गतिशील हो जाते हैं तो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द उत्पन्न होते हैं। ये सब-के-सब गुण इकट्ठे ही उत्पन्न नहीं होते। कहीं रूप, कहीं रस, कहीं गन्ध, कहीं स्पर्श और कहीं शब्द उत्पन्न होने लगता है। ये सब गुण पदार्थों में गति से ही उत्पन्न होते हैं।

यास्क कहता है–

तांसां वायुः प्रथमागामी भवति। (निरु. या. 10-1)

अर्थात्–वायु इन (मध्य स्थानीय देवताओं में) सर्वप्रथम है। यह उन सब देवताओं से पहले बना है।

इसका यह अर्थ है कि जब परमाणुओं की साम्यावस्था भंग हुई तब आकर्षण-विकर्षण आरम्भ हुआ और यही वायु का अभिप्राय है। वायु की संगति उत्पन्न हुई तो परमाणु अथवा परमाणु-समूह ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में आने लगे और उनसे ज्ञानेन्द्रियों में अनुभव होने लगा।

अतः स्थूल जगत् में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श अैर शब्द की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न अवयवों के इकट्ठे होने से होती है।

इसी सम्बन्ध में दर्शन शास्त्र कहता है–

संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि।।

(वैशे. द. 4-1-11)

अर्थात्–द्रव्यों में संख्या, परिमाण, पृथकता, संयोग, विभाग, दूरी, समीपता और (उनमें) कर्म, रूप तथा द्रव्यों में समवाय का चक्षु आदि इन्द्रियों से पता चलता है।

जब पदार्थों में वायु के कारण रूप बन जाता है, तब उनकी गिनती, उनकी लम्बाई-चौड़ाई इत्यादि और उनमें कर्म का ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों को होता है। जो द्रव्य, रूप वाले नहीं होते, उनका इन बातों में ज्ञान नहीं होता। रूप-द्रव्य का होना वायु के कारण ही होता है।

यह बताया जा चुका है कि चराचर जगत् के सब पदार्थ पंच महाभूतों से ही बने हैं। हमने यह भी बताया है कि पंच महाभूत परिमण्डलों (atoms) के समूह हैं। इन परिमण्डलों में विशेषताएँ क्या हैं? इन पाँच प्रकार के परिमण्डलों से तीन प्रकार की सृष्टि बनती है। वैशेषिक दर्शनाचार्य महर्षि कणाद इस विषय में कहते हैं–

तत्पुनः पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्।।

(वै. द. 4-2-1)

अर्थ है–हम आगे बताते हैं कि पृथिव्यादि (पंच महाभूत) कार्यद्रव्य (बने हुए पदार्थ) तीन प्रकार के हैं। शरीर, इन्द्रियाँ और उनके विषय संज्ञा वाले।

शरीर से अभिप्राय प्राणियों के शरीर से ही है। मनुष्य से लेकर छोटे-से-छोटे जीवधारी के शरीर तक सब एक श्रेणी में रखे गए हैं।

दूसरी प्रकार का कार्य-द्रव्य है इन्द्रियाँ। तीसरी प्रकार का कार्य-द्रव्य है वे पदार्थ जो इन्द्रियों से देखे जाते हैं, सुने जाते हैं, सूँघे जाते हैं, चखे जाते हैं तथा स्पर्श किए जाते हैं। इनके अतिरिक्त सृष्टि नहीं। ये तीनों प्रकार की सृष्टि पंच महाभूतों से ही बनती है।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि शरीर से अभिप्राय प्राणी नहीं, प्राणी का शरीर है। इसी प्रकार इन्द्रियों से अभिप्राय इन्द्रियों में देखने की शक्ति से नहीं, इन्द्रियों के गोलकों से है। हम यह इस कारण कहते हैं कि प्राणी में शरीर के अतिरिक्त दो अन्य तत्त्व भी हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों में कार्य करने वाली शक्ति पंच-भौतिक नहीं है। वह परिमण्डलों की नहीं बनी। यहाँ हम पंच भौतिक सृष्टि का ही वर्णन कर रहे हैं।

पाँच भूत दो प्रकार के माने गए हैं–प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। पृथिवी, जल और वायु, तीन प्रत्यक्ष भूत हैं। ये शरीर में प्रत्यक्ष दिखाई भी देते हैं। आकाश महाभूत और आग्नेय महाभूत दिखाई नहीं देते। ये अप्रत्यक्ष हैं।

अतः कोई कह सकता है कि कार्य-जगत् के पदार्थ और शरीर इत्यादि तीन भूतों के बने हैं, पाँच के नहीं। परन्तु वैदिक विज्ञान यह मानता है कि जगत् में प्रत्येक कार्य-पदार्थ पाँच भूतों का बना है। तीन तो प्रत्यक्ष दिखाई देते ही हैं। दो अप्रत्यक्ष भी प्रत्येक पदार्थ में उपस्थित होते हैं। पार्थिव (solids), जलीय (liquids) और वायवी (gasseus) के अतिरिक्त आग्नेय और आकाशीय पदार्थ भी प्रत्येक में उपस्थित होते हैं। यह कैसे पता चलता है? इस विषय में दर्शनाचार्य इस प्रकार कहता है–

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम्।। (वै. द. 4-2-3)

अर्थात्–(वस्तुओं के) अन्य गुणों के प्रकट न होने से (संसार के पदार्थ) त्र्यात्मक (तीन भूतों के बने) नहीं। ये पंच भौतिक हैं।

अन्य गुणों का एक उदाहरण हम देते हैं। शब्द लोहे की सलाख में भी चलता है। शब्द चलता है आकाश के माध्यम से। इससे यह सिद्ध होता है कि लोहे की सलाख में भी आकाश के अणु (परिमण्डल) हैं। विद्यालयों में एक परीक्षण विद्यार्थियों को करके दिखाया जाता है। वह यह कि एक 'जार' (jar) में एक घड़ी रख दी जाती है। उस घड़ी की टिक्-टिक् 'जार' के बाहर भी सुनाई देती है। पीछे 'जार' में से वायु निकाल दी जाती है। तब 'जार' के बाहर ध्वनि सुनाई नहीं देती।

वर्तमान विज्ञान के पण्डित कहते हैं कि शब्द वायु के माध्यम से चलता है। परन्तु शब्द तो लोहे के सलाख में भी चलता है। लोहे की सलाख में वायु

नहीं होती। अतः यह कहना गलत है कि शब्द वायु के माध्यम से चलता है।

तथ्य यह है कि कुछ है जो वायु और लोहे, दोनों में उपस्थित है और वह ही शब्द के चलने में माध्यम का कार्य करता है।

वायु में भी आकाश रहता है और जब 'जार' में से वायु निकाली जाती है तो आकाश भी उसमें से निकाल दिया जाता है। इस कारण 'जार' में से हवा निकालने के उपरान्त जार के बाहर शब्द सुनाई नहीं देता। यह इस बात का प्रमाण है कि एक अप्रत्यक्ष महाभूत प्रत्येक पदार्थ में रहता है।

दूसरा अप्रत्यक्ष महाभूत, 'आग्नेय' भी सब पदार्थों में रहता है। यह तो अब स्वीकार कर लिया गया है कि प्रायः सब-के-सब रासायनिक तत्त्वों (elements) के परिमण्डलों में एक संख्या में परिमण्डल निरन्तर टूटते (dis-integrate) रहते हैं। इनमें से तैजस् अहंकार अथवा प्रोटोन, वैकारिक अहंकार शक्ति के रूप में निकलता रहता है। यह आग्नेय परिमण्डलों के सब वस्तुओं में होने का प्रमाण है।

वर्तमान वैज्ञानिक जिसको रासायनिक संयोग-वियोग (combination and decomposition) कहते हैं, उसका वर्णन वैशेषिक दर्शनाचार्य इस प्रकार करता है–

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः ।। (वै. द. 4-2-4)

अणुओं (परिमण्डलों) का संयोग प्रतिषिद्ध (वर्जित) नहीं। जहाँ जिन कारणों से संयोग होता है, उनके विपरीत कारणों से वियोग भी माना जाता है। यह हम वर्तमान विज्ञान के अनुसार बता चुके हैं।

इस अध्याय में हमने विशेष और अविशेषों का वर्णन किया है। सृष्टि-रचना आरम्भ हुई परमाणुओं से और परमाणुओं से बने महत्, अहंकार और तन्मात्र। ये अविशेष कहलाते हैं।

इनके उपरान्त बने परिमण्डल जो पाँच प्रकार के माने गए हैं–पार्थिव, जलीय, वायवीय, आग्नेय और आकाशीय। वे विशेष कहलाते हैं।

जगत् के सब पदार्थ इन पाँच प्रकार के परिमण्डलों से बने हैं। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में पाँचों ही प्रकार के परिमण्डल रहते हैं।

जगत् के पदार्थ तीन प्रकार के कहे जाते हैं–शरीर, इन्द्रिय और विषय। शरीर प्राणियों के होते हैं। इन्द्रियाँ भी प्राणियों में होती हैं और प्राणी अर्थात् इन्द्रियाँ जिसका अध्ययन करती हैं, वे विषय हैं।

पंचम अध्याय

अन्तरिक्ष के पदार्थ

सामान्य दृष्टि से पृथिवी के ऊपर सूर्य, चन्द्र और कुछ तारे दिखाई देते हैं। वास्तव में देखा जाए तो हमारी पृथिवी अन्तरिक्ष की सृष्टि के सामने नगण्य ही है। अन्तरिक्ष कहाँ तक है, इसका अनुमान लगाने के लिए लम्बाई-चौड़ाई के विषय में कुछ प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

यदि हम एक कागज पर चिह्नित दो बिन्दुओं में अन्तर जानना चाहें तो हमें इसके लिए पहले नापने की एक इकाई बनानी पड़ेगी।

एक इकाई जो भारत में स्वीकार कर ली गई है, वह है मीटर। आज से बीस वर्ष पहले जो इसी के मुकाबले की इकाई प्रचलित थी, उसे गज कहते थे। मीटर गज से कुछ बड़ा होता है। कुछ भी हो, अपनी लिखने की कापी पर दो बिन्दुओं में अन्तर पता करने के लिए मीटर काम नहीं आ सकता। मीटर का पैमाना कापी से काफी बड़ा होता है। इस कारण मीटर के एक सौ भाग कर प्रत्येक भाग का नाम निश्चय किया गया है। एक भाग का नाम सैण्टी-मीटर है। परन्तु कापी पर दो बिन्दुओं का ठीक-ठीक अन्तर प्रतीत करने के लिए सैण्टीमीटर के भी छोटे भाग किए गए हैं। एक सैण्टीमीटर को दस भागों में बाँटा गया है और प्रत्येक भाग का नाम मिलीमीटर रखा गया है।

इस प्रकार हम दो बिन्दुओं में अन्तर नाप सकते हैं। दो बिन्दुओं में अन्तर है छः सैण्टीमीटर, तीन मिलीमीटर। इसे लिखेंगे 6.3 सै. मी.।

मिलीमीटर सामान्य दृष्टि में एक पर्याप्त छोटा अन्तर है, परन्तु वैज्ञानिक नाप के लिए ऐसे यन्त्र बनाए गए हैं जिनसे हम एक मिलीमीटर का भी एक सहस्रवाँ (1/1000) भाग अथवा इससे भी छोटा भाग नाप सकते हैं।

परन्तु जब हम पृथ्वी के ऊपर तथा चारों ओर व्योम (space) में नाप-तोल करने लगें, तो मीटर एक सर्वथा अनुपयुक्त तथा छोटा परिमाण रह जाता है। उदाहरण के रूप में पृथिवी का सूर्य से अन्तर 9,30,00,000 मील है और एक मील में लगभग 1590 मीटर होते हैं। अब 9,30,00,000 मील में मीटर तो और

भी अधिक हो जाएँगे। इस कारण अन्तरिक्ष की दूरियाँ नापने के लिए नई इकाई की कल्पना की गई है।

उदाहरण के रूप में प्रकाश एक सैकिण्ड में 1,86,300 मील चलता है। अतः एक मिनट में यह चलेगा 1,86,300×60 मील। वर्ष में यह चलेगा 1,86,300×60×60×24×365 = 58,75,15,68,000 मील।

यह लगभग अट्ठावन अरब, पचहत्तर करोड़ पन्द्रह लाख अड़सठ हजार मील बनता है। इस दूरी की एक इकाई मानी जाती है। इसे प्रकाश-वर्ष की दूरी (light year) कहते हैं। इस प्रकार नापने से सूर्य पृथिवी से केवल आठ प्रकाश मिनट के अन्तर पर माना गया है।

इस गणना से हम अल्तायर (altair) नाम के तारे से सोलह प्रकाश-वर्ष के अन्तर पर हैं। यह सृष्टि जिसमें तारागण चल रहे हैं, कितनी बड़ी है, इसका अनुमान मनुष्य अभी नहीं लगा सका। जब विद्वान् लोग व्योम (space) की सीमाएँ नापते हैं, तो 'नेति-नेति' कह उठते हैं। वर्तमान विज्ञान अपने सब यन्त्रों सहित भी इसके एक कोने को भी नहीं जान सका।

वैदिक विज्ञान बस इतना ही कहता है–

अक्षरमम्बरान्तधृतेः।। (ब्र. सू. 1-3-10)

अक्षर व्योम के अन्त तक धारण किए हुए हैं।

अक्षर उस पदार्थ को कहते हैं जो नाशवान् नहीं हैं। वैदिक मीमांसा के अनुसार ऐसे अक्षर तीन पदार्थ हैं–परमात्मा, मूल प्रकृति तथा जीवात्माएँ। इस सूत्र का अभिप्राय यही है कि ये तीनों मूल पदार्थ जहाँ तक यह व्योम (space) है वहाँ तक इसमें भरे पड़े हैं। परन्तु यह व्योम कितना लम्बा-चौड़ा है, यह कोई नहीं जानता।

वर्तमान विज्ञान भी यही कहता है–

Scientific observation has as yet revealed no limits to the universe and has so far probed only a fraction of it. Yet to travel to the frontiers of that observed fraction even at 1,86,300 miles per second would take 6,000 million years.

(Readers Digest Great World Atlas —p. 102)

अर्थ है–(वर्तमान) विज्ञान की जाँच-पड़ताल अभी तक यही पता कर सकी है कि इस विश्व की कोई सीमा नहीं है और उसका एक बहुत छोटा अंश ही हम देख सके हैं। जो कुछ देख पाए हैं उसको पार करने के लिए 1,86,000 मील प्रति सैकण्ड की गति से यदि यात्रा करें तो उसमें भी 6,00,00,00,000 वर्ष लग जाएँगे।

इस व्योम में हिरण्यगर्भ (nebulae) बिखरे पड़े हैं। हिरण्यगर्भ का अभिप्राय उस प्रपंच से है, जिसमें एक जगत् बना और चल रहा है। उदाहरण के रूप में वह हिरण्यगर्भ जिसमें हम बने हैं और रह रहे हैं, वह आकाश-गंगा (milky

way) कहलाता है। जहाँ तक जाना जा सका है, आकाश-गंगा उन सब हिरण्यगर्भों से बड़ा है जो, हम अपनी दूरबीन से अन्तरिक्ष में देख सके हैं। वैसे पाँच सौ के लगभग हिरण्यगर्भ (nebulae) देखे जा चुके हैं।

आकाश-गंगा, यदि हम इसके बाहर एक किनारे पर खड़े होकर देखें तो यहाँ एक चपटी तश्तरी-सी दिखाई देगी। यह तश्तरी की भाँति का तारक-समूह अपने केन्द्र के चारों ओर घूम रहा है।

आकाश-गंगा में लगभग 1,00,00,00,00,000 तारागण हैं। केन्द्र में बहुत समीप-समीप हैं और तश्तरी के किनारों की ओर जाते हुए ये विरले होते जाते हैं। मध्य में 'कॉस्मिक रे' (cosmic ray) की धूरि में बहुत-से तारे दिखाई नहीं देते।

इन गलैक्सियों (हिरण्यगर्भों) के उत्पन्न होने के विषय में वर्तमान विज्ञान कुछ नहीं बताता। परन्तु वेद इस विषय में स्पष्ट रूप से वर्णन करता है।

इस विषय में एक वेदमन्त्र है–

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन् त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्।।

(ऋ. 1-163-1)

अर्थ है–श्येन के पंखों तथा हिरण की बाँहों की भाँति तीव्र गति से चलने वाला महान् (परमात्मा का तेज) समुद्र (अन्तरिक्ष) से उठता हुआ, घोर शब्द करता हुआ सबसे पहले उत्पन्न हुआ। ऐसे हे अर्वन्! पूर्व सृष्टि के तीन पदार्थों से तू स्तुति के योग्य था।

यह हम ऊपर ब्रह्म सूत्र (1-3-10) से बता चुके हैं कि पूर्ण व्योम में परमात्मा, मूल प्रकृति और जीवात्माएँ भरे हुए हैं। ये तीनों अक्षर सर्वत्र उपस्थित हैं।

इस व्योम में सबसे पहले (सृष्टि-रचना से पहले) परमात्मा का तेज उत्पन्न हुआ। उसे मन्त्र में अर्वन् कहा है। उत्पन्न होने के समय यह घोर शब्द कर रहा था। बहुत तीव्र गति से अन्तरिक्ष में चला।

इस तेज ने क्या किया? यह इसके अगले मन्त्र में बताया है।

मन्त्र है–

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामागृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट।।

(ऋ. 1-163-2)

अर्थात्–यम (परमात्मा) द्वारा दी गई शक्ति को त्रित (त्रिगुणात्मक) परमाणु ने जीता। पहले इन्द्र ने इस (शक्ति) को अधिष्ठित किया हुआ था। अर्थात् परमात्मा उस त्रित गुट्ट (परमाणु) पर अधिष्ठित हो गया। शान्त (साम्यावस्था में) त्रित (परमाणु) ने उस (अर्वन्) को सूर्य की रश्मियों के समानतया लगामों के रूप में ग्रहण किया और थामा।

इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा का तेज परमाणुओं पर अधिष्ठित हो गया और उसे लगाम समझ परमाणुओं ने ग्रहण किया। जैसे घोड़े के मुख में लगाम पड़ जाए तो वह घोड़े का मार्गदर्शन करती है, इसी प्रकार परमाणुओं में हुआ। उनमें सत्त्व, रजस्, तमस् गुण अपना मुख बदलने लगे। पहले अन्तर्मुखी थे, फिर बर्हिमुखी हो गए।

इससे अगले मन्त्र में बताया है कि तब क्या हुआ।

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि।।

(ऋ. 1-163-3)

अर्थात्–तू यम (नियन्त्रण करने वाला) है। तू (आदित्य) चमकदार (प्रकाशमान्) है, तू 'अर्वन्' (तेज भागने वाला) है। त्रित गुह्य (भीतर से गुप्त रूप में गठित) थे जो पहले साम्यावस्था में थे, (परमाणु) समीप-समीप, परन्तु पृथक्-पृथक् थे। यह कहा जाता है कि (ऊपर के मन्त्रों के अनुसार) इस (अर्वन् के प्रभाव) से तीन दिव्य गुणों वाले बन्धन (combinations) उत्पन्न हुए। (ये बन्धन अहंकारादि कहे जाते हैं।)

इसी सम्बन्ध में आगे कहा है–

त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्।।

(ऋ. 1-163-4)

इसका अभिप्राय है–

उस समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष में, कहा जाता है कि, वे तीन दिव्य पदार्थ (अहंकार) बनने पर तीन अपों में हुए। पवित्र उच्चारण करने वाला तू अर्वन् (ही) है। उन (अपः) से पूर्ण जगत् बना।

आगे कहा है–

इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानां सनितुर्निधाना।
अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यमृतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः।।

(ऋ. 1-163-5)

अर्थात्–वह जो ऊपर कहा गया है, वे अश्व अर्थात् वे तीन जो अपः उत्पन्न हुए थे, शुद्ध करने के लिए हैं। वे तीनों संचार-स्थान पर रहते हुए अच्छी प्रकार पदार्थ की स्थापना करते हैं। वे कल्याण करने वाले, रस देनेवाले (भोग सामग्री उपस्थित करने वाले) हैं। देखा जाता है कि पालक (जगत् चलाने वाले) के नियम का पालन करते हैं।

यह हम पहले बता आए हैं कि अहंकार ही इलैक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन हैं। इन्हीं को ही यहाँ कहा है और यह बताया है कि सम्पूर्ण जगत् उन अपः से ही बना है। वर्तमान विज्ञान भी यही बताता है कि इन तीन (electron,

proton, neutron) से ही सब संसार बना है।

वर्तमान विज्ञान और वैदिक विज्ञान में दो बातों का अन्तर प्रतीत होता है। पहला यह कि वर्तमान विज्ञान नहीं जानता कि ये तीनों प्रकार के कण (particles) कहाँ से और कैसे बन गए? दूसरा अन्तर यह है कि मूल पदार्थ का स्वरूप क्या है?

सांख्य ने उसे सत्त्व, रजस तथा तमस् की साम्यावस्था कहा है और वेद ने उसका त्रित 'गुह्येन व्रतेन' कहकर उल्लेख किया है। अर्थात् त्रित तीन का गुप्त रूप से अति दृढ़ संयोग है।

यह है जिससे अविशेष विशेषों में बदले हैं और विशेषों में परिवर्तन हुए हैं।

षष्ठ अध्याय

सृष्टि में चेतन जगत् की उत्पत्ति

वैशेषिक दर्शन शास्त्र में कहा है कि जगत् में निर्मित पदार्थ तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—जीवधारियों के शरीर, उनकी इन्द्रियाँ और उन इन्द्रियों के विषय। (वैशे. द. 4-2-1)। यह हम पहले वर्णन कर चुके हैं। वे पदार्थ जो इन्द्रियों के विषय कहे जाते हैं, उनके विषय में भी हम बता चुके हैं। वहाँ इतना बताया है कि (1) व्योम असीम है; (2) उसमें ये तीन अक्षर परमात्मा, जीवात्मा और (साम्यावस्था) में परमाणु भरे पड़े हैं; (3) जब सृष्टि-रचना का समय होता है तब परमात्मा का महान तेज जिसे (ऋ. 1-163-1 में) 'अर्वन्' कहा है तथा (ऋ. 10-129-2 में) 'आनीत् अवातम्' कहकर पुकारा है, जाग्रत हो उठता है और रचना-कार्य आरम्भ हो जाता है। प्रकृति—महत्—अपः—परिमण्डल और तदनन्तर संयोग-वियोग से चराचर अनेक पदार्थ।

परन्तु यह हम बता चुके हैं कि जगत् में इन विषयरूप पदार्थों के अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के पदार्थ हैं—प्राणी के शरीर और प्राणी की इन्द्रियाँ।

शरीर और इन्द्रियाँ दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ हैं। पहले शरीर के विषय में ही कहेंगे।

वे पदार्थ जिनको वैशेषिकाचार्य ने विषय-रूप कहा है, जैसे मेज, कुर्सी, कलम, कागज, इत्यादि, इनमें और एक प्राणी के शरीर में अन्तर है। इस अन्तर का वर्णन करने का वर्तमान वैज्ञानिक यत्न कर रहे हैं और यह अन्तर कैसे पार हुआ, इसको जानने का यत्न किया जा रहा है।

मूल रूप में दो प्रकार के विचारक हैं—एक वे जो परमात्मा-आत्मा को मानते हैं और दूसरे वे जो परमात्मा-आत्मा को नहीं मानते।

जो परमात्मा-आत्मा को मानते हैं उनमें वैदिक विज्ञान के ज्ञाता भी हैं। और दूसरी श्रेणी में वर्तमान वैज्ञानिक लिए जा सकते हैं। इन दोनों के बीच में कई प्रकार के विचार हैं। इन सबका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। अतः हम वर्तमान विज्ञान और वैदिक विज्ञान की बात ही यहाँ लिखेंगे। वर्तमान विज्ञान का प्रतिनिधि 'ऐन्साईक्लोपेडिया ब्रिटैनिका' में लिखता है—

To trace the origin of life requires the solution of three problems, in the following order : (1) the origin of the materials out of which living things are at present made; (2) the processes of the energies by which life is carried on (metabolism); and (3) the reproduction, first of molecules and then of organisms, characteristic of current life, though not necessarily of all life. This last point is the key attribute that distinguishes life from inorganic processes.

(Ency. Brittanica (1968) Vol. 13-1085a)

इसका अर्थ है :–

जीवन के आरम्भ को जानने के लिए तीन समस्याओं को सुलझाने की आवश्यकता है और इसी क्रम में जिसमें यह दी गई हैं–(1) पृथिवी पर उस उपादान (material) की जो प्राणवान् वस्तुओं में उपस्थित है, उत्पत्ति का पता करना। (2) शक्ति के आने की विधि जिससे जीवन-कार्य चलता है। (3) जन्तु की उत्पत्ति। पहले अणु की और फिर जन्तु की जिसमें आजकल जीवन समझा जाता है। यह अन्तिम समस्या ही कुंजी है जिससे जीवित का अजीवित वस्तुओं से अन्तर प्रकट होता है।

हम समझते हैं कि सर्वप्रथम बात जिसे वर्तमान विज्ञान के लोग या तो भूल जाते हैं अथवा जानबूझकर छोड़ देते हैं, वह यह है कि प्राणवान् और अप्राणवान् में अन्तर क्या है?

वैज्ञानिकों के प्राणी के लक्षण हम इसी पुस्तक के प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय में दे चुके हैं और उस पर अपनी प्रतिक्रिया भी लिख चुके हैं। हम समझते हैं कि भूल यहीं की जा रही है। जो कुछ वर्तमान विज्ञान में माना जाता है, वह एक शरीर के लक्षण हो सकते हैं परन्तु प्राणी के नहीं। शरीर प्राणी का एक अंग है। यह पूर्ण प्राणी नहीं है।

प्राणी का आरम्भ तो हम देखते नहीं। वह माँ के गर्भ में होता है। परन्तु अन्त तो सब नित्य देखते हैं। वृद्धावस्था में अन्त को छोड़कर अन्य सब अन्तों में (जिन्हें अकाल मृत्यु कहते हैं) हम एक बात देखते हैं कि मृत्यु के एक क्षण पहले तक उपापचयी (metabolic) प्रक्रिया चल रही होती है और मृत्यु के एक क्षण उपरान्त ही वह बन्द हो जाती है।

आज यह माना जाता है कि :–

Once polymers were formed, there could then exist free-floating, or self subsistent little blobs of polymer jelly, that no longer required attachment to the clay particles to keep from dissolving in the surrounding ocean. Such blobs have been formed in the laboratory

and are called co-acervates. In: the interstices of these co-acervates the various forms of metabolic action were clinically evolved, the enzymes of today being the successors of proto-ennzymes derived from the direct action of such metals as iron or copper co-ordinated with simple organic basis. (Ency. Brit (1968) Vol. 13.1085d)

इस पद का अर्थ है–

एक बार जब पौलिमर (higher proteins molecule) बन गया तब स्वतन्त्र तैरता हुआ अणुओं का गुच्छा जैली में (लेसदार पदार्थ के रूप में) पानी में घुल नहीं सकता था, ऐसे पौलिमर के गुच्छे प्रयोगशाला में बनाए गए और ये (co-acervates) परस्पर इकट्ठे रहने वाले कहे जाते हैं। इन इकट्ठे रहने वालों के भीतर उपापचय (metabolism) के अनेक परिवर्तन प्रस्तुत किए गए हैं। ये आज के ऐंजाइम्ज पहले के pro-enzymes हैं। (यहाँ इतना कह देना ठीक होगा कि ये ऐंजाइम्ज (enzymes) प्राणी के शरीर में खाई गई प्रोटीन को शक्ति में बदलकर जीवन-कार्य चलाते हैं। ये शरीर का अंग नहीं माने जाते, इस पर भी शरीर का कार्य करते हैं।

इसी कारण हमारा प्रश्न यह था कि मृत्यु के एक क्षण पहले और पीछे इन ऐंजाइम्ज को क्या हो जाता है कि वे एकाएक काम करना छोड़ देते हैं?

वास्तव में ये ऐंजाइम्ज नहीं जो कार्य चलाते हैं, वरन् वह कोई और है जिसको वर्तमान विज्ञान के विद्वान् स्वीकार नहीं कर रहे।

वैदिक विज्ञान इसको इस प्रकार मानता है–

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम।।

(ऋ.–1-164-1)

अर्थात्–इस सुन्दर वृद्धता को प्राप्त होने वाले (शरीर) के हेतु (इसे यज्ञ में प्रयोग करने वाला) एक भाई बीच में बैठा भोग कर रहा है। एक तीसरा भाई सबका पालन करने वाला और सबका स्वामी है। उसे मैं यहाँ (शरीर में) देखता हूँ कि वह अपने सात पुत्रों के साथ विद्यमान है।

यह प्राणी का स्वरूप (शरीर) है जो वृद्धता को प्राप्त हो रहा है। इस शरीर को यज्ञ (जीवन-कार्य) के लिए चलाने वाला एक है जो संसार के पदार्थों का भोग करता है। एक तीसरा भी इसके भीतर बैठा है। वह इस शरीर में अपने सात पुत्रों (प्राणों) से कार्य करता है।

शरीर, जीवात्मा और परमात्मा का संयोग ही यह प्राणी है। यह केवल शरीर नहीं। वर्तमान वैज्ञानिक शरीर का विश्लेषण कर रहे हैं। शरीर में मुख्य पदार्थ हैं हाईड्रोजन (hydrogen), नाईट्रोजन (nitrogen), आक्सीजन (oxygen), कार्बन (carbon) और कैलशियम (calcium)। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य रासायनिक

तत्व (chemical elements) बहुत कम मात्रा में पाए जाते हैं।

वर्तमान विज्ञान के विद्वानों के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में जब अभी पृथिवी पर हवा (air) का संरक्षण नहीं था, तब अन्तरिक्ष में से आने वाली कॉस्मिक किरणों से सामान्य अमीनो ऐसिड (amino acid) से पौलिमर (polymer) बन गईं।

इन विद्वानों के विचार में इन पौलिमर के बन जाने पर जीवन (life) स्वतः निर्माण हो जाता है।

सब जीवधारियों (मनुष्य, पशु, कीट-पतंग, कीटाणु और सब प्रकार की वनस्पतियों) के शरीर छोटे-छोटे रखनों (cells) के बने होते हैं। इन्हें कोषाणु कहा जाता है। जब ये कार्य-रत रहते हैं तो ये जीवित कोषाणु (living cells) कहलाते हैं।

जीवित अवस्था में इनकी एक दीवार (cell wall) होती है। इस दीवार में एक लसीला पारदर्शक प्रोटो प्लाज्म (proto plasm) होता है। इसके बीचों बीच एक पीत वर्ण का बिन्दु के समान पदार्थ होता है जिसे केन्द्रिका (nucleus) कहा जाता है।

इस केन्द्रिका में धागों की भाँति पदार्थ होता है जिसे क्रोमोजोम्ज कहते हैं। क्रोमोजोम्ज फीतों की भाँति लिपटे होते हैं। डाल पर फलों की भाँति इनमें गोल-गोल जीन रहते हैं। इन जीन में न्यूक्लियक ऐसिड के अणु एक विशेष ढंग से जुड़े होते हैं।

वैसे तो इसमें कई प्रकार के ऐसिड होते हैं। परन्तु इन सब ऐसिडों को दो श्रेणियों में बाँटा गया है—एक श्रेणी R.N.A. और दूसरी D.N.A. कही जाती है। इन दो प्रकार के ऐसिडों के संयोग से न्यूक्लियक ऐसिड बनता है जिससे कहा जाता है कि जीवित कोषाणु में शक्ति का आविर्भाव होता है। इस शक्ति से ही कोषाणु जीवित रहता है।

इस सब विवरण के होते हुए भी हमारा प्रश्न वही है कि जब अकाल मृत्यु होती है तो कैसे पूर्ण शरीर के कोषाणुओं की न्यूक्लियक ऐसिड काम करना छोड़ देती है?

उपापचय (metabolism) के स्थान अनुपापाचय (catabolism) आरम्भ हो जाता है। यह क्यों? शरीर तो ज्यों-का-त्यों वहाँ रहता है।

वेदमन्त्र (1-164-1) में बताया है कि दूसरा भ्राता जो 'अस्त्यश्नः' भोग करने वाला है वह शरीर छोड़ जाता है। इस कारण शरीर-निर्माण होना बन्द हो जाता है और शरीर का विघटन आरम्भ हो जाता है।

इसे सांख्य दर्शन भली प्रकार समझाता है।

जैसा कि हम 'अविशेष विशेष' के प्रकरण में (सांख्य 3-1) पहले बता चुके हैं कि अविशेषों से विशेषों का आरम्भ होता है और प्रकृति—महत्—अहंकार तथा तन्मात्र ये अविशेष हैं, इस बात को ध्यान में रखकर अगला सूत्र पढ़ें तो बात स्पष्ट हो जाती है।

सूत्र है :—

तस्माच्छरीरस्य।। (सां. 3-2)

अर्थ है—उनसे शरीर का बनना आरम्भ होता है। इस सूत्र के भाष्य में श्री उदयवीर शास्त्री यह बताते हैं कि अविशेषों से सूक्ष्म शरीर और विशेषों से स्थूल शरीर बनता है।

स्थूल शरीर तो प्रतिक्षण बनता और विघटित होता रहता है, परन्तु सूक्ष्म शरीर सृष्टि के आदि में बनता है और जीवात्मा के साथ जन्म-जन्मान्तर तक जाता है। जन्म के समय सूक्ष्म शरीर के ऊपर स्थूल शरीर का निर्माण हो जाता है। मृत्यु के उपरान्त स्थूल शरीर ही छूटता है। सूक्ष्म शरीर जीवात्मा के साथ रहता है।

ब्रह्म सूत्र में कहा है :–

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्।। (3-1-1)

अर्थात्—इस (शरीर) के उपरान्त (दूसरा शरीर) प्राप्त होने पर (जीवात्मा) जाता है (सूक्ष्म शरीर से) लिपटा हुआ। यह विचार-विनिमय से पता चलता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जब जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है तो यह एक सूक्ष्म शरीर में लिपटा हुआ जाता है।

इस शरीर की बनावट के विषय में कहा है :–

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्।।2।। (ब्र. सू. 3-1-2)

अर्थात्—तीन पदार्थों और एक अन्य से (यह सूक्ष्म शरीर) बनता है। अभिप्राय यह है कि सूक्ष्म शरीर तीन पदार्थों के संयोग से बना है। चौथा पदार्थ इस संयोग को कराने वाला है।

इसी अभिप्राय से सांख्य दर्शन में यह कहा है :–

पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य।। (सां. 3-8)

अर्थात्—पूर्व में पैदा हुए से उसका कार्य होना, एक का भोग से है, दूसरे का नहीं।

अभिप्राय यह है कि आदिकाल में दोनों शरीर बने थे—एक अविशेषों से और दूसरा विशेषों से। अविशेषों से बना सूक्ष्म शरीर भोग से जीवित नहीं होता और विशेषों से बना स्थूल शरीर भोगों से बनता है। भोज्य पदार्थ परिमण्डलों से बने होते हैं। इस कारण स्थूल शरीर परिमण्डलों से बनता है। परन्तु सूक्ष्म शरीर जो खाए गएं पदार्थों का बना नहीं, वह परिमण्डलीय नहीं।

अतः प्राणी के शरीर के बनने को समझने के लिए इस वैदिक परम्परा को समझना चाहिए कि प्राणी में जीवात्मा दो शरीरों में लिपटा हुआ रहता है। एक सूक्ष्म शरीर और दूसरे स्थूल शरीर में। सूक्ष्म शरीर भोज्य पदार्थों से नहीं बनता। यह सिद्ध करता है कि वह परिमण्डलीय नहीं है। इसके विपरीत स्थूल शरीर तो परिमण्डलीय है। यह भोजन पर पलता है।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि क्योंकि अविशेष स्वरूप-रहित हैं, इस कारण वे दृष्टिगत नहीं होते और स्थूल शरीर स्वरूपवान् होने से दृष्टिगत होता है।

इतना जान लेने पर वैदिक विज्ञान में प्राणी के बनने की कथा इस प्रकार बनती है—प्राणी में (ऋ. 1-164-1) तीन पदार्थ हैं : शरीर, जीवात्मा और परमात्मा। शरीर में परमात्मा सात प्राणों से कार्य करता है।

शरीर दो प्रकार के हैं। ये शरीर किस-किस पदार्थ के बने हैं, यह भी ऊपर बताया है। सृष्टि के आरम्भ के समय प्राणी तीन अव्यक्त (स्वरूपरहित) पदार्थों से लिपट जाता है। ये पदार्थ हैं प्रकृति के परमाणु, महत् के परमाणु और अहंकार। इन तीन पदार्थों को एकत्रित करने और इकट्ठा बाँधकर रखने में तन्मात्र-समूह काम करते हैं।

तब स्थूल शरीर का निर्माण होता है।

यह कहा है—

मातापितृजं स्थूलं प्रायशः इतरन्न तथा।। (सां. 3--7)

अर्थात्—स्थूल शरीर प्रायः माता-पिता से उत्पन्न होता है और दूसरा (सूक्ष्म शरीर) नहीं।

इसका अभिप्राय यह है कि स्थूल शरीर पंच-भौतिक होने से परिमण्डलों से बना होता है। यह माँ के गर्भाशय में ही पिता के वीर्य के सहयोग से बनता है। परन्तु सूक्ष्म शरीर तो माँ के पेट में नहीं बनता। यह जीवात्मा के साथ-साथ पुराने शरीर से नए शरीर में आता है। यह एक बार सर्ग के आरम्भ में बनता है और फिर बना रहता है। इसका विघटन सर्ग के अन्त में ही होता है।

स्थूल शरीर के विषय में भी बताया है कि यह प्रायः माता-पिता के शरीर से बनता है। यहाँ प्रायः से अभिप्राय है कि कभी यह माता-पिता के शरीर के बिना भी बनता है। कब और कैसे? कहा है कि सर्ग के आरम्भ में। जब सर्वप्रथम शरीर बना, तब माता-पिता थे नहीं। उस समय स्थूल शरीर सूर्य और पृथिवी के संयोग से बना। सृष्टि के चालू काल में तो स्थूल शरीर माता-पिता के सहयोग से ही बनता है।

वेद में यह स्पष्टतया कहा है कि सृष्टि के आरम्भ में माता-पिता का कार्य पृथिवी और सूर्य से सम्पन्न होता है। यह इस प्रकार वर्णन किया है—

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः।।
युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद्वत्सो अनु गामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु।।

(ऋ.—1-164-8, 9)

अर्थात्—माता (जन्म देने वाली) पिता को अनादि सत्य यज्ञ के समय चारों ओर से प्राप्त करती है और धारण करती है, चित्त शक्ति से। आदिकाल में (तब) संयोग होता है। संयोग की इच्छा से बँधी हुई धारणा करती है। तब उपवाणी (शब्द-मात्र) से निबद्ध होती है।

जुड़ी हुई ध्रुव के दक्षिण में माता (पृथिवी) एक सुरक्षित स्थान पर सन्तान

को ग्रहण करती है।

(तब) वत्स (जीवात्मा) पीछे-पीछे आता हुआ उस गर्भ के भीतर स्थित होता है। वह शब्द मात्र से निबद्ध होता है।

इन मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि आदि काल में पृथिवी और सूर्य के सहयोग से ध्रुव के दक्षिण में एक सुरक्षित स्थान पर गर्भ स्थित हुआ और उसमें पीछे जीवात्मा आकर स्थित हो गया। वह वाणी पा गया। यह तीन बन्धनों में बँधा हुआ आता है।

यह वही बात है जो ऊपर सांख्य दर्शन के उद्धरण में बताई गई है। जब शरीर बन जाता है तो जीवात्मा, सूक्ष्म शरीर में लिपटा हुआ, स्थूल शरीर में अधिष्ठित हो जाता है। सूक्ष्म शरीर तीन अविशेषों का बना हुआ होता है। तीन अविशेष तन्मात्रों से बँधे हुए होते हैं।

वैदिक विज्ञान बताता है कि जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर अन्तरिक्ष में बनते हैं और ज़ब पृथिवी पर स्थूल शरीर, पृथिवी और सूर्य के संयोग से अथवा माता-पिता के संयोग से बन जाते हैं तो जीवात्मा सूक्ष्म शरीर में लिपटा हुआ उस स्थूल शरीर में आ जाता है।

एक बार माता-पिता बन गए तो फिर मैथुनीय सृष्टि होने लगती है। प्रक्रिया तो वही होती है। माता और पिता के संयोग से शरीर पहले बनता है। तब सूक्ष्म शरीर में लिपटा हुआ आत्मा आता है और गर्भ में स्थित हो जाता है। चाहे तो स्थूल शरीर बने जीवित माता-पिता के संयोग से और चाहे बने पृथिवी और सूर्य के प्रयत्न से, स्थूल शरीर के बन जाने के उपरान्त ही जीवात्मा सूक्ष्म शरीर में लिपटा हुआ आता है।

आगे कहा है–

तिस्रो मातृस्त्रीन पितॄन् विभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्।।

(ऋ. 1-164-10)

प्राणी का शरीर तीन माताओं (अर्थात् माता की ओर से तीन अंशों) और तीन पिताओं (पिता की ओर से तीन अंशों) को लेकर बनता है।

माता की ओर के तीन अंश हैं–जलीय, पार्थिव और वायवीय। ये पंचभौतिक पदार्थ हैं। पिता की ओर से आने वाले पदार्थ हैं आकाश और अग्नि। ये भी पंच-भौतिक पदार्थ हैं। पिता की ओर से आने वाला तीसरा पदार्थ है प्राण। प्राण कार्य करने की शक्ति है।

जब यह शरीर बन जाता है तो जीवात्मा, जो ऊपर (अन्तरिक्ष में) स्थित होता है, इस शरीर में आ जाता है और फिर इससे पृथक् नहीं होता।

इन बनने वाले प्राणियों में जो (मन्त्रयन्ते) मन्त्र समझने वाले दूर सूर्य-रश्मि की

पीठ पर स्थित होते हैं, वे समस्त वाणी का अर्थ समझाते हैं। सब प्राणी नहीं समझते।

इसी विषय पर एक अन्य स्थान पर भी ऐसा ही कहा है। वहाँ मन्त्र इस प्रकार हैं—

आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम्।
शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि।।6।।
अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष आ पदे गोः।
यदा ते मर्त्तो अनु भोगमानळादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः।।7।।

(ऋ. 1-163-6, 7)

(ते आत्मानं मनसा आरात् अजानाम्) तेरे अपने शरीर को मन से दूर और समीप से जानता हूँ। (दिवा अवः पतयन्तं पतङ्गम्) अन्तरिक्ष में सुरक्षित हुआ जीवात्मा गिरता हुआ। (शिरः अपश्यम्) सबसे आगे आता हुआ देखता हूँ। (वह) (पतवि पथिभिः सुगेभिः अरेणुभिः जेहमानम्) वह गिरने के स्वभाव वाला सुगम धूरि से रहित पथ से जाता है।

(अत्रा) इस स्थान पर जहाँ वह गिरता हुआ देखा गया है, (ते रूपम् उत्तमम् अपश्यम्) तेरे उत्तम रूप को देखता हूँ। (इषः आ पदे गोः जिगीषमानम्) पृथिवी पर अन्न प्राप्त करने की इच्छा करते हुए को (यदा ते मर्त्तः अनु भोगम् आनळ्) जब वह प्राणी भोग के लिए प्राप्त करता है। (आत् इत् औषधिः ग्रसिष्ठ अजीगः इति) इसके उपरान्त अतिशय वनस्पतियों को निरन्तर प्राप्त होता है।

इन मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि प्राणी-सृष्टि-रचना के आरम्भ में सूक्ष्म शरीर तब बनता है जब प्रकृति के परिणामों में महत् अहंकार और पंच तन्मात्र बन जाते हैं। उस समय जीवात्मा जो सुषुप्ति अवस्था में सुरक्षित होते हैं, जाग पड़ते हैं और देखते हैं कि उनके लिए शरीर बनने लगे हैं। तब वे पतन के स्वभाव वाले अर्थात् जो प्रकृति से संयोग की इच्छा रखते हैं, अपने सुरक्षित स्थान से अपने शरीर को देखते हैं और उसमें आते हैं। जब उसमें आ जाते हैं तब उनको पृथिवी पर स्थूल शरीर मिलता है और वे भोग के लिए अन्न तथा वनस्पतियाँ ग्रहण करने लगते हैं।

वैदिक विज्ञान में और वर्तमान विज्ञान में अन्तर यह है कि जहाँ प्राणी-सृष्टि की रचना के समय वर्तमान विज्ञान केवल शरीर-रचना की ओर ही दृष्टि रखता है वहाँ वैदिक विज्ञान शरीर में एक चेतन तत्त्व की उपस्थिति का भी विचार करता है। वैदिक विज्ञान प्राणी में एक चेतन-तत्त्व को स्वीकार करता है। यह इस कारण कि प्राणी में चेतना को वह बिना एक चेतन-तत्त्व को स्वीकार किए समझ और समझा नहीं सकता।

वर्तमान वैज्ञानिक शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को अपनी खुर्दबीन से देख रहे हैं, परन्तु उसे देखने के उपरान्त भी वे इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और चेतना की उपस्थिति को समझा नहीं सकते।

यह माना जाता है कि जीवित कोषाणु की केन्द्रिका के क्रोमोजोम्स में

जो जीन हैं वे प्राणी की विशेषताओं का स्वरूप वर्णन करते हैं। परन्तु ये विशेषताएँ चेतना से पृथक् हैं। इनका चेतना से कोई सम्बन्ध नहीं है।

शरीर की विशेषताएँ जीवात्मा की विशेषताओं से भिन्न हैं। यह ठीक है कि जीवात्मा शरीर में ही देखा गया है। शरीर के बिना इसका अस्तित्व अनुभव नहीं होता। इसी कारण जीवात्मा के अस्तित्व को न मानने वाले कहते हैं कि जीवात्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यही बात परमात्मा के विषय में कही जा सकती है। प्रकृति के संयोग के बिना जीवात्मा और परमात्मा का प्रकटीकरण नहीं होता।

इस पर भी जो बात, इन दोनों आत्म-तत्वों को न मानने से समझ में नहीं आती, वह यह है कि जड़ से चेतन में परिवर्तन के समय वह क्या तत्व है जो जड़ में आ जाता है तो जड़ भी चेतन के लक्षण प्रकट करने लगता है।

वर्तमान विज्ञान इस (जीवन की) विशेषता को जड़-प्रकृति में से उत्पन्न होने वाला बताने का यत्न कर रहा है। वह अभी तक इसमें सफल नहीं हुआ।

उदाहरण के रूप में वर्तमान वैज्ञानिक यह मानते हैं कि जीवित प्राणी की एक सर्वोपरि विशेषता है सन्तान उत्पन्न करना।

सन्तान का अभिप्राय है माता-पिता समान उसकी एक प्रतिलिपि तैयार करना। इसे वे जीवन-लक्षण मानकर जीवन को ढूँढ़ने का यत्न कर रहे हैं। इस खोज में पग-पग कर जीन और फिर जीन में उपस्थित रसायनिक पदार्थ तक पहुँचे गए हैं।

उनकी इस पहुँच में पग इस प्रकार हैं—

(1) वनस्पतियों में पैदावार भी जन्तु की पैदावार की भाँति होती है। वनस्पतियों में फूल आते हैं। फूलों में पराग और डिम्ब होते हैं और नए वृक्ष का बीज पराग के एक कण (sperm) और एक डिम्ब के संयोग से ऐसे ही होता है जैसे प्राणी में उत्पन्न एक शुक्राणु का एक डिम्ब के साथ संयोग से होता है। अतः वनस्पति और जन्तु दोनों समान रूप से जीवित प्राणी हैं।

(2) वनस्पतियों में वृद्धि एक अन्य प्रकार से भी होती है। एक वृक्ष की डाल भूमि में गाड़ देने से वृक्ष बन सकता है। भूमि में गाड़ने का अभिप्राय केवल मात्र यह है कि पेड़ को भोज्य पदार्थ मिल सके। जन्तुओं में भोज्य पदार्थ शरीर के भीतर लेने के लिए विशेष कला बनी है। इस कारण उस कला के साथ शरीर का कोई अंग जोड़ देने से उसमें भी वृद्धि होने लगती है। जन्तु और वनस्पति दोनों ही जीवित शरीरधारी हैं।

(3) स्त्री-पुरुष के संयोग से वृद्धि तथा भोज्य पदार्थ को ग्रहण करने का प्रबन्ध है। उचित ढंग से होने वाले सम्पर्क से वृद्धि में यह देखा गया है कि जीवित शरीर में उपस्थित जीवित कोषाणुओं में वृद्धि के सूचक हैं।

जन्तु के शरीर में अथवा वनस्पतियों के शरीर में उपस्थित जीवित कोषाणु होते हैं। उनके जीवित होने का प्रमाण ही यह है कि इन कोषाणुओं में वृद्धि

होती है। एक कोषाणु के दो कोषाणु हो जाते हैं, दो से चार और चार से आठ और इसी प्रकार वृद्धि होती है।

(4) पुरुष-कोषाणु और स्त्री-डिम्ब भी एक-एक वैसा ही कोषाणु होता है जैसा कि शरीर में सामान्य कोषाणु होता है। इस पर भी सामान्य कोषाणु और शुक्राणु इत्यादि में कुछ अन्तर होता है। वह अन्तर बाह्य देखने में है और कुछ अप्रत्यक्ष रूप में भी है जो देखा नहीं गया।

(5) जब एक कोषाणु में वृद्धि होती है तो एक कोषाणु के दो बन जाते हैं। बनने से पूर्व कोषाणु की केन्द्रिका (nucleus) विभक्त होती है। पीछे केन्द्रिका के दोनों भागों के आस-पास कोषाणु का प्रोटोप्लाज्म एकत्रित होने लगता है और अन्त में कोषाणु की दीवार भी टूट जाती है और प्रोटोप्लाज्म के दोनों भागों के चारों ओर पृथक्-पृथक् दीवार बन जाती है।

(6) पुरुष-स्त्री-कोषाणुओं में संयोग की प्रक्रिया इससे भिन्न होती है। दोनों कोषाणुओं का प्रोटोप्लाज्म मिलकर एक हो जाता है। तब दोनों की केन्द्रिका एक-दूसरे के आमने-सामने आ जाती हैं। इससे केन्द्रिका के क्रोमोजोम्स एक-दूसरे के सामने आ जाते हैं और फिर वे परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं। तब क्रोमोजोम्स ऐसे दो-दो हो जाते हैं जैसे ककड़ी को छुरी से काटकर लम्बाई में दो बराबर-बराबर हिस्सों में विभक्त कर दिया जाए। इन विभक्त क्रोमोजोम्स से दो केन्द्रिका बनती हैं और पुनः दो पूर्ण कोषाणु बन जाते हैं।

वर्तमान वैज्ञानिक मानते हैं कि वृद्धि दोनों प्रकार से होती है।

(7) यह माना जाता है कि क्रोमोजोम्स एक फीते की भाँति का धागा होता है जिसके साथ गोल-गोल, लसीले फलों की भाँति, जीन लगे रहते हैं और ये जीन दो प्रकार के प्रोटीन्स से बने होते हैं। इन प्रोटीन के अणु (molecules) नाइट्रोजन तथा कार्बन नाम के रासायनिक पदार्थ हैं।

वर्तमान विज्ञान का अन्वेषण कुछ ऐसा हो गया है जैसे किसी प्याज की परतें उतारते चले जाएँ और सबके अन्त में कुछ भी नहीं प्राप्त होता।

वैदिक विज्ञान शरीर, जिसका अन्तिम सूक्ष्म विभाग एक जीवित कोषाणु है, को प्राणी का एक भाग मानता है। दूसरा भाग अव्यक्त है और वह जीवात्मा है। जीवात्मा एक कोषाणु अथवा कोषाणुओं के एक समूह में रहता है।

कई बार तो पृथक्-पृथक् कोषाणु में पृथक्-पृथक् जीवात्मा होता है और कई बार कोषाणु-समूह (शरीर) में एक जीवात्मा रहता है।

एक प्राणी, शरीर और जीवात्मा का संयोग होता है।

जब आत्मतत्त्व (जीवात्मा और परमात्मा) प्रकृति से पृथक् होते हैं तो एक जड़ प्रकृति रह जाती है और दूसरा आत्मतत्त्व होता है जो अपने सब कारणों से रहित हो जाने के कारण कुछ कर्म नहीं कर सकता।

सप्तम अध्याय

विकासवाद

प्रकृति के परिवर्तनों की विवेचना में ऐसा कहा है कि पहले प्रकृति तमोभूत थी अर्थात् वह निश्चल थी। तब यह परमाणु-रूप में थी। प्रत्येक परमाणु सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों की साम्यावस्था के कारण निश्चल था। इसकी निश्चलता परमात्मा के महान् तेज से भंग हुई। भंग होने से पूर्व ये गुण अन्तर्मुखी होने के कारण परस्पर एक-दूसरे को निःशेष (neutralize) कर रहे होते हैं। इस अवस्था को साम्यावस्था कहा है।

परमात्मा के तेज से गुण बहिर्मुख हो जाते हैं और फिर इन गुणों के कारण पड़ोसी परमाणुओं से आकर्षण-विकर्षण होने लगता है। यह सृष्टि-रचना का आरम्भ है। प्रकृति की इस अवस्था का नाम महत् है।

पहले परमाणुओं के संयोग से अहंकार बनते हैं। अहंकारों के संयोग से परिमण्डल (atoms) बनते हैं। परिमण्डल वैदिक विज्ञानानुसार पाँच स्वभाव के हैं। इन्हें पंच महाभूत कहते हैं। ये पंच महाभूत जगत् के अनेकानेक पदार्थ बनाते हैं।

यह है जगत् की रचना का इतिहास। एक के उपरान्त दूसरा पदार्थ बनता है। प्रकृति–महत्–अहंकार–परिमण्डल (पंच महाभूत)–जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थ।

क्योंकि ये पदार्थ एक परम्परा से बनते हैं, इस कारण यह कहा जा सकता है कि इनका निर्माण विकास की प्रक्रिया से हुआ।

परन्तु इन परिवर्तनों में भी एक से दूसरा पदार्थ एकाएक ही बनता है। इसे संस्कृत में युगपत रचना कहते हैं।

प्रकृति में सब परिवर्तन एक ही समय में नहीं हुए। उदाहरण के रूप में असंख्य परमाणुओं में गुणों के अन्तर्मुखी से बहिर्मुखी होने में तो समय लगा है, परन्तु एक परमाणु में गुण बहिर्मुखी तो एकाएक ही हुए हैं। उनको बहिर्मुखी होने में समय नहीं लगा। इस पर भी सब परमाणु जिनसे जगत् की रचना हुई, एक ही समय में अन्तर्मुखी से बहिर्मुखी नहीं हुए।

इसका एक उदाहरण लिया जा सकता है। जल में से विद्युत् को गुजारते हैं। उस विद्युत्-तरंग से जल अपने में मिश्रित तत्त्वों में विभक्त होता है। ज्यों-ज्यों विद्युत्-तरंग का जल के अणुओं पर प्रभाव पड़ता है, वे विभक्त होते जाते हैं। पूर्ण सिलिण्डर के जल को विभक्त करने में तो बहुत समय लगता है, परन्तु जल का एक अणु जब हाइड्रोजन और आक्सीजन के परिमण्डलों (atoms) में विभक्त होता है तो यह परिवर्तन युगपत ही होता है।

हमारे कथन का अभिप्राय यह है कि सामूहिक परिवर्तन तो क्रमशः होते हैं, परन्तु एक परमाणु अथवा अणु में परिवर्तन युगपत होता है।

दूसरे शब्दों में प्रकृति में परिवर्तन का नियम युगपत ही है। एक इकाई में परिवर्तन एकाएक होता है। परन्तु सामूहिक रूप में प्राकृतिक शक्तियों से परिवर्तन होने में समय लगता है।

जब प्रकृति के परमाणुओं पर 'तेज' की लहर चली तो जो परमाणु उस तेज के सम्पर्क में आए, उनमें गुणों की साम्यावस्था एकदम भंग हुई। हाँ, सब परमाणु, जो रचना के कार्य में भाग लेने वाले थे, उनके परिवर्तन में समय लगा।

कितना समय लगा, इसका भी वर्णन मिलता है। वैदिक विज्ञान कहता है कि परमाणुओं में सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था भंग आरम्भ हुए आज छः मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं। सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है।

मन्वन्तरों की भी गणना की गई है। रचना-आरम्भ से लेकर रचना के पूर्ण विघटन तक 4,32,00,00,000 सौर-वर्ष लगते हैं। इसमें चौदह बार निर्माण अथवा विघटन करवट लेता है। इस कारण इस काल को चौदह भागों में बाँटा गया है और एक भाग को मन्वन्तर कहा है। इस 4,32,00,00,000 सौरवर्ष के काल को ब्रह्म-दिन कहते हैं। इसे एक सहस्र देव-वर्षों में भी बाँटा है। एक देव-वर्ष को चतुर्युगी भी कहते हैं।

अतः ब्रह्म-दिन = 14 मन्वन्तर = 1000 चतुर्युगियाँ
= 4,32,00,00,000 सौर वर्ष।

और एक मन्वन्तर हुआ = 71.428 चतुर्युगियाँ और बराबर है
= 308571428.5 सौर वर्ष।

मन्वन्तर में रचना का विशेष कार्य होता रहता है। आज, छः मन्वन्तर व्यतीत होकर सातवें मन्वन्तर की सत्ताईस चतुर्युगियाँ व्यतीत हो चुकी हैं। अट्ठाईसवीं चतुर्युगी का भी सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर व्यतीत होकर कलियुग के 5078* वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

यह माना जाता है कि वर्तमान मन्वन्तर विवस्वत-सुत नाम का चल रहा है। इसका अभिप्राय है सूर्य के पुत्रों का काल। अभिप्राय यह है कि पृथिवी

* ईसवीं सन् 1978 (पुस्तक लिखे जाने का वर्ष)

पर वनस्पतियाँ और जीव-जन्तुओं के उत्पन्न होने का यह काल है।

वनस्पतियाँ और प्राणी-सृष्टि सूर्य से ही उत्पन्न हुई है और उसी से ही पालित हो रही है।

सृष्टि-क्रम में एक पदार्थ के बन जाने पर दूसरा पदार्थ बनता है, परन्तु जब कोई पदार्थ बनता है तब वह एकाएक बनता है।

इसी प्रकार जीवों की रचना के विषय में भी वैदिक विज्ञान मानता है कि जब तत्त्व एकत्रित हुए तब प्रत्येक प्राणी बना। जो भी प्राणी बना, वह बनते समय ऐसा ही था, जैसा कि आज बना दिखाई देता है। लाखों प्रकार के जीव-जन्तु हैं। सब अपने शरीर बन जाने पर बने।

परन्तु वर्तमान विज्ञान ऐसा नहीं मानता। यह मानता है कि जन्तु पहले एक प्रकार का बना और फिर उससे सब प्रकार के जन्तु विकसित हुए हैं। जल, वायु, परिस्थितियाँ, जन्तु के एक रूप से दूसरे रूप में बदलने में विवश करती रही हैं।

वर्तमान वैज्ञानिकों के द्वारा प्रतिपादित विकासवाद (evolution theory) इस प्रकार वर्णन की जा सकती है–

(1) यूरोप के दार्शनिक और वैज्ञानिक बाईबल के इस कथन से परेशान थे कि सृष्टि को बने केवल आठ हजार वर्ष हुए हैं। साथ ही वे कल्पना नहीं कर सके कि मनुष्य और हाथी जैसे बड़े-बड़े जानवर बिना माता-पिता के कैसे उत्पन्न हो गए? बाईबल में तो केवल मनुष्य की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है।

वहाँ कहा है :–

And God said, let us make men in our image, after our likeness and let them have dominion over the fish of seas and over the fowl of the air and over the cattle and over all the earth and over every creaping things that creapeth upon the earth.

And so God created man in his own image. In the image of God created, He him; male and female created He them.

(Bible Old Genesis, Chapt. I-26.27)

अर्थ है–परमात्मा ने कहा, हम अपने ही स्वरूप में मनुष्य बनाएँ और वे मछलियों (जल-जन्तुओं), हवा में उड़ने वाले पक्षियों और भूमि पर चलने वाले स्थल-चर और रींगने वाले कीट-पतंगों पर शासन करें।

इस प्रकार परमात्मा ने पुरुष तथा स्त्री को अपनी ही नकल में बनाया।

वैज्ञानिकों और यूरोप के दार्शनिकों को यह कथन अस्वाभाविक लगा, क्योंकि परमात्मा ने मनुष्य को बनाया ही नहीं था।

(2) वैज्ञानिक इस पर आपत्ति करते थे, परन्तु इसका विपर्यय बता नहीं

सकते थे। इस समय डार्विन ने अपना ग्रन्थ 'जन्तु जातियों का आरम्भ' (Origin of Species) लिखा। यद्यपि इस विषय में एक धुँधली-सी कल्पना यूनानी वैज्ञानिक अरस्तू के काल से चली आती थी, परन्तु डार्विन की व्याख्या ने यूरोपियन वैज्ञानिकों और दार्शनिकों का संकट-मोचन कर दिया और उन्होंने इसके आश्रय अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ाने आरम्भ कर दिए। हर्बर्ट स्पेन्सर ने इस विचार को विकासवाद (evolution theory) का नाम दे दिया है।

(3) विकासवाद, परमात्मा के बिना, रचना-कार्य को वर्णन करने का एक प्रयास है।

(4) यह वाद इस प्रकार है कि जब कॉस्मिक किरणों (cosmic rays) के प्रभाव से हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और कार्बन संयुक्त हुए तो अमीनो ऐसिड (amino acids) बन गई और फिर वे सूर्य की शक्ति के प्रभाव से विषम-अमीनो पदार्थ (complex amino compound) बन गए। वे ही जीवन का आरम्भ हो गए। एक कोषाणु (unicellular animal) जन्तु बन गया। सम्भवतः यह जन्तु अमीबा (amoeba) था।

इस एक जन्तु से अनेक जन्तु बने हैं। इसमें युक्ति यह दी जाती है कि प्रत्येक वनस्पति एवं जन्तु का शरीर कोषाणुओं (cells) से बना है और वह कोषाणु सर्वथा अमीबा की प्रकार का ही है।

यह कहा जाता है कि बहुत-से अमीबा कोषाणु भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलकर बड़े-बड़े जन्तु बना देते हैं।

(5) एक से अनेक प्रकार के जन्तु होने का कारण क्या है? कारण है प्रकृति में स्वाभाविक चुनाव (natural selection) का चलन। इसका अभिप्राय यह है कि जलवायु और अन्य परिस्थितियाँ विवश करती हैं कि जो प्रकृति के अनुकूल हैं, वे ही जी सकें और जो अनुकूल नहीं, वे मृत्यु को प्राप्त हों।

पूर्वोक्त कथन का वर्णन एक अन्य ढंग से भी किया जा सकता है। इसे योग्य का जीवित रह सकना (survival of the fittest) कहा जाता है।

ऊपर कहा गया है कि जो प्रकृति के अनुकूल है और जो प्राकृतिक कठिनाइयों का विरोध कर सकते हैं, दोनों एक ही कारण से जीवित रहते हैं और अन्य मर जाते हैं।

(7) प्रकृति की बदलती हुई परिस्थितियों को अनुकूल बनाने अथवा उनका विरोध करने से ही जन्तुओं की जातियाँ परिवर्तित होती हैं।

(8) पर्णांग (ferns) पौधों में जाति-परिवर्तन हो रहा माना जाता है। पर्णांग (fern) पौधों का एक प्रकार से गीली वस्तुओं पर फफूँद का आ जाना माना जाता है। फफूँद बहुत छोटे-छोटे पौधे होते हैं। इन पौधों में एक ही स्थान पर स्त्री और पुरुष-कण उपस्थित देखे गए हैं। कभी-कभी तो एक ही कोषिका (cell)

में होते हैं। एक ही पौधा जो उभयलिंगी होता है, कभी स्त्रीलिंग और कभी पुल्लिंगी ब़न जाता है। इसे उभयलिंगी (hermaphrodite) कहते हैं।

इस लिंग-परिवर्तन को ही वैज्ञानिक जाति बदलना मानते हैं।

(9) जाति-परिवर्तन का एक अन्य उदाहरण है। जलवायु के बदलने से कुछ जन्तुओं का रंग-रूप बदल जाता है और फिर वह जन्तु अपने रंग-रूप की सन्तान उत्पन्न करने लग जाता है।

यह माना जाता है कि पहाड़ी कौए श्वेत रंग के हो गए हैं। अथवा चीन के रहने वाले पीले रंग के हो गए हैं। इसे अंग्रेजी में पॉली मॉर्फिज्म (poly morphism) कहते हैं। इस शब्द का अर्थ है existence of one specie in several forms अर्थात् एक जाति का कई रूपों में विद्यमान होना।

(10) इस जीवन-विद्या में परिवर्तन का विचार कर ही वैज्ञानिकों ने यह अनुमान लगाया है कि पृथिवी पर जीवन करोड़ों वर्षों से है। पृथिवी पर के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में पाए गए जन्तुओं के कंकाल (fossils) से वे यह कल्पना करने लगे हैं कि उस कंकाल वाले जन्तु वर्तमान मानव के पूर्वज थे।

(11) जीन (gene) के आविष्कार को विकासवाद का समर्थक माना जाता है। वनस्पति शास्त्र में खोज करने वाले एक श्री आई. जी. मण्डल हुए हैं। उन्होंने मटर के पौधों पर खोज-कार्य किया है। वह यह समझे हैं कि जीन से दो प्रकार के परिवर्तनों का पता चलता है। एक प्रकार के परिवर्तनों को 'जिनोटाइप' (genotype) कहते हैं। ये नस्ल-दर-नस्ल चलते हैं। दूसरी प्रकार के परिवर्तनों को 'फ्रीनोटाइप' (phrenotype) कहते हैं। ये परिवर्तन एक नस्ल तक ही रहते हैं।

वैज्ञानिकों का यह मत है कि जीन का क्रम (order) बदलने से न केवल सन्तति का स्वभाव बदलता है, वरन् जाति भी बदल जाती है। अतएव जीन की खोज को विकासवाद का समर्थक माना जाता है।

जैनेटिक्स (genetics) की खोज चल रही है और यह कहा जाता है कि स्त्री-पुरुष का अन्तर, भले-बुरे स्वभाव का अन्तर और जन्तुओं में अन्य दिखाई देने वाले भेद जीन के क्रम और संख्या पर निर्भर करते हैं।

यह पता किया गया है कि 'जीन' दो प्रकार के रासायनिक पदार्थ D.N.A. और R.N.A. से बना है। ये रासायनिक पदार्थ प्रयोगशाला में निर्माण किए जा सके हैं। अतः जीन (फलतः जन्तु) निर्माण किए जा सकेंगे और इस विषय में यह भी यत्न किया गया है कि एक-एक कोषाणु जन्तु (unicellular animal) के जीन एक दूसरे इसी प्रकार के जन्तु के जीन में जमा करने से एक नई प्रकार के जन्तु का निर्माण हो जाए।

विकासवाद अभी सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है। जहाँ तक विज्ञान-क्षेत्र से बाहर

के विद्वानों का, विशेष रूप में इतिहास के ज्ञाताओं का सम्बन्ध है, उन्हें तो यह वाद अपनी अधूरी खोजों में कारण बताने में एक बहाना मिल गया है। वे यह नहीं बता सकते थे कि क्यों यूरोप का इतिहास पाँच-छः सहस्र वर्ष से पहले का नहीं मिलता और क्यों यूनान और मिस्त्र का इतिहास पाँच-छः सहस्र से भी पहले का प्राप्त है? अथवा क्यों भूमध्य रेखा के समीप के देशों की संस्कृति, सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान लाखों वर्ष पुराना कहा जाता है? जब ये अनभिज्ञ यूरोपीय इतिहासज्ञ बता नहीं सके कि क्यों गर्म देशों में इतिहास की परम्परा बहुत प्राचीन है तो इनको विकासवाद एक बहुत सुगम आश्रय मिल गया और ये कहने लगे कि मनुष्य बीस सहस्र वर्ष से पहले वनमानुष ही था और वनमानुष से उन्नति करते-करते वह पिछले कुछ सहस्र वर्ष से ही अपने को समझने लगा है। साथ ही वास्तविक उन्नति तो पिछले तीन-चार सौ वर्ष में ही हुई है।

जो देश दो सहस्र वर्ष से पहले किसी प्रकार की सभ्यता का दावा करते हैं, उनको झूठा और उनके ग्रन्थों को 'माइथॉलॉजी' कहने का वे इतिहासज्ञ साहस करने लगे हैं।

परन्तु वैज्ञानिक स्वयं अभी विकासवाद को एक सिद्ध नियम नहीं मानते। देखिए, इस विषय पर एक वैज्ञानिक इस प्रकार लिखता है :–

Since Darwin, and especially in the 20th century, doubt has been cast on the evolutionary efficacy of those factors on which Darwin himself laid most stress. The conclusion that species do in fact give rise to other species has earned almost universal acceptance, and on the general relation of living things within the larger groups there is no wide divergence of opinion. It cannot be said, however, that any general agreement has been reached as to the process by which the great variation in living things has been produced, nor can it be claimed that there is any consensus as to the relationship of the main groups of living things to each other. Despite these reservations it cannot be gainsaid that the history of biology since the days of Darwin may be treated as in large part a commentary on his work. The stimulus which he gave to comparative morphology has given rise to a truly prodigious literature dealing with plant and animal forms.

(Ency. Brit. (1968) 3-651-b)

इसका अर्थ इस प्रकार है :–

डारविन के उपरान्त और विशेष रूप में बीसवीं शताब्दी में, प्रकृति में

विकास की क्षमता पर, जिस पर डार्विन ने अत्यधिक बल दिया था, सन्देह किया गया है। यह परिणाम कि जन्तुओं की जातियाँ सत्य ही एक-दूसरे में बदलती हैं, लगभग सर्वमान्य हो गया है और सामान्य रूप में अब बड़ी-बड़ी जन्तु-जातियों की श्रेणियों के प्राणियों के परस्पर सम्बन्ध में कुछ अधिक मतभेद नहीं रहा। इस पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उस ढंग पर सहमति हो गई है जिससे एक जन्तु-जाति दूसरी जन्तु-जाति में बदली है। न ही यह दावा किया जा सकता है कि एक प्रकार के जन्तुओं का दूसरे प्रकार के जन्तुओं से सम्बन्ध है और इसमें किसी प्रकार की सहमति है। इन मतभेदों के होते हुए भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि डार्विन के उपरान्त प्राणी-शास्त्र का इतिहास, डार्विन के विचारों की मुख्य रूप में आलोचना ही है। उस (डार्विन) ने जन्तुओं की तुलनात्मक आकृति के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया है। इससे वनस्पतियों और जन्तुओं के रूप का अध्ययन-सम्बन्धी साहित्य प्रचुर मात्रा में निर्माण हुआ है।

इसके साथ ही यह वक्तव्य है :–

Under the hypothesis of separate creation, the distinctions between true species should be absolute. Members of the same species must all trace to the same originally created individuals, while members of different species can have no common ancestry whatever. Under the hypothesis of evolution no such absoluteness is to be expected. The definition and characteristics of species are thus crucial questions in arriving at conclusions on the reality of evolution and on its mode, if it is occurring.

(Ency. Brit. (1968) 8—918 a)

अर्थ है—पृथक्-पृथक् (जन्तुओं की) रचना के विचाराधीन वास्तविक जन्तु-जातियों में भेद पूर्ण होना चाहिए। एक ही जन्तु-जाति के सदस्यों का एक ही जन्तु से उत्पत्ति का पता होना चाहिए और भिन्न-भिन्न जन्तु-जातियों का पुरखा एक नहीं होना चाहिए। विकासवाद में इतनी पृथकता की आवश्यकता नहीं। उससे जातियों के लक्षण और विशेषताएँ निर्णयात्मक नहीं, जिससे विकास की सत्यता का परिणाम निकाला जा सकता है और विकास के उपायों को समझा जा सकता है।

वस्तुस्थिति यह है कि जब से विकासवाद पर विचार आरम्भ हुआ है, इसके कई नियमों पर सन्देह किया जा रहा है और उक्त कथन उन सन्देहों को अमान्य करने के लिए प्रकट किया गया है।

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपियन वैज्ञानिकों और दार्शनिकों को बाईबल के कथनों पर अपने सन्देहों में यह अधूरा वाद आश्रय मिल गया है।

डार्विन के विचार को अस्वीकार करनेवाले एक ऐगासिज (Agassiz) हुए हैं। उसके विषय में यह लिखा गया है–

As Agassiz was beyond question one of the ablest, wisest and best informed of the biologists of his day, it is often asked why his attitude towards Darwinism was, throughout all his lifetime cold and unsympathetic. It seems possible that his position was determined in part by a misunderstanding.

(Ency. Brit. (1968) Vol. 1—320 d)

अर्थ–ऐगासिज, निर्विवाद रूप में अपने काल के प्राणीशास्त्र के ज्ञाताओं में योग्यतम तथा सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमानों में से एक था। यह कहा जाता है कि वह अपने जीवनभर डार्विनवाद के विरुद्ध रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी स्थिति एक सीमा तक भूल के कारण समझी गई है।

दूसरों को भूल हुई हो अथवा नहीं, परन्तु उसका अपना कथन तो स्पष्ट है। उसके विषय में यह भी कहा गया है–

He once said that in his studies of fossils he ``was on the verge of anticipating Darwinism," but was with held by the discovery that ``we had the higher fishes first." In a sence this was true, for the brain development of the sharks is higher, as a whole, than that of the bony fishes.

(Ibid)

इस पद का अर्थ है :– उसने एक बार कहा था, पुराने कंकालों का अध्ययन करते हुए मैं डार्विन मत को मानने ही वाला था, परन्तु एक खोज से मैं रुक गया। मैंने देखा कि उन्नत मछलियाँ अधिक पुरानी हैं।

एक विचार से यह बात ठीक ही थी। शार्क का मस्तिष्क हड्डीदार मछलियों से अधिक उन्नत था।

यही डॉक्टर 'ऐगासिज' (Agassiz) अपनी पुस्तक (Principles of Zoology) के पृष्ठ 205-206 पर लिखता है :–

There is manifest progress in the succession of being on the surface of this earth. This progress consists in an increasing similarity of the living fauna, and among the vertebrates especially in their increasing resembelance fo man....but this connection is not the concequence of a direct lineage between the fauna of different ages. There is nothing like parental descent connecting them. The fishes of the palaeozoic age are in no respect the ancestors of the reptiles

of the secondary age, nor does man descend from the mammals which preceded in the Tertiary age. The link by which they are connected is of a higher and immaterial nature and Himself whose aim in forming the earth, in allowing it to undergo succesively all the different type of animals, which have passed away, was to introduce man upon the surface of our globe. Man is the end towards which all the animal-creation has tended from the first appearance of the Palaezoic fishes.

(वैदिक सम्पत्ति, भाग 1, पृ. 159-160 से उद्धृत)

इस पद का अर्थ है– भूस्थल पर जन्तुओं में स्पष्ट और निरन्तर प्रगति देखी जाती है। यह जीवधारियों में, विशेष रूप में रीढ़ की हड्डी वाले जन्तुओं में मनुष्य के समान होने की ओर है। परन्तु यह सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के जन्तुओं में जो भिन्न-भिन्न जातियाँ उत्पन्न हुईं, सन्तान के से सम्बन्ध का नहीं है। उनमें किसी प्रकार का पूर्वज और सन्तान का सम्बन्ध नहीं है। पैलोजोइक-युग की मछलियाँ किसी प्रकार से भी दूसरे युग के रेंगनेवाले जानवरों की सन्तान नहीं थीं। न ही मनुष्य उन दूध पिलानेवाले जानवरों की सन्तान है जो उससे पहले टर्शरी-युग में हुए थे। रिश्ता शरीर का नहीं है। यह उस उच्च अभौतिक तत्त्व का है जिसका इस पृथिवी को बनाने का उद्देश्य और इस पर एक-दूसरे के उपरान्त भिन्न-भिन्न प्रकार के जानवरों के बनाने का आयोजन, जो सम्पन्न हो चुका है, मनुष्य की रचना करने का है। यह उद्देश्य पैलोजोइक-युग में मछलियों के बनने से आरम्भ हुआ था।

ऊपर जो ऐन्साइक्लोपीडिया में लिखनेवाले ने कहा है कि डॉक्टर ऐगासिज को न समझने के कारण उसे डार्विनवाद का विरोधी माना जा रहा है, यह सत्य नहीं है। उसकी अपनी पुस्तक का यह लेख किसी प्रकार से भी भ्रम नहीं छोड़ता कि सब जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों के शरीर की इकाई जीवित कोषाणु में समानता देखकर यह अनुमान लगाना ठीक नहीं कि ये सब एक-दूसरे से पिता-पुत्र का सम्बन्ध रखते हैं।

एक सरल-सा उदाहरण लिया जा सकता है। किसी नगर के सब मकान ईंट और सीमेण्ट के बने हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि ईंट, चूना मकानों के पिता हैं, न ही इसका अर्थ यह है कि छोटी-छोटी झोपड़ियाँ गगनभेदी महलों की माता-पिता हैं।

साथ ही हम जब गगनभेदी महल में रहनेवाले परिवार और झोंपड़ी में रहनेवाले परिवार की बात करते हैं तो ईंट, चूना और सीमेण्ट का प्रश्न ही नहीं रह जाता। क्योंकि परिवार के लोग ईंट-सीमेण्ट के बने नहीं होते।

इसी प्रकार जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों के शरीर जीवित कोषाणुओं (living cells) के बने हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि एक प्रकार का प्राणी किसी दूसरी प्रकार के प्राणी की सन्तान है। न शरीर से वे सम्बन्धित हैं और न ही पूर्ण प्राणी के विकास से वे सम्बन्धित हैं।

हम यह पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि प्राणी केवल शरीर नहीं है, वरन् यह शरीर के अतिरिक्त दो अन्य तत्त्व भी अपने में रखता है।

परन्तु न तो शरीर एक-दूसरे की उपज है और न ही समूचा प्राणी। एक प्रकार का प्राणी दूसरे प्रकार के प्राणी को उत्पन्न नहीं कर सकता।

ऊपर दिए गए उद्धरणों से यह समझ में आता है कि आधुनिक वैज्ञानिकों के विचार अब इस ओर झुक रहे हैं कि भले ही पेड़ों से मछलियाँ उत्पन्न न हुई हों, अथवा भले ही मछलियों से रेंगनेवाले जन्तु उत्पन्न न हुए हों, अथवा भले ही गाय-भैंस से मनुष्य न बने हों, परन्तु गधे से घोड़ा तो बना है अथवा तोते से मैना तो बनी है। यह भी कहा जा सकता है कि इन सन्देह करनेवालों के विचार से वन-मानुष से मनुष्य अवश्य बना है।

इस विषय में वैदिक विज्ञान मानता है–

योनेः शरीरम्।। (ब्र. सू. 3-1-27)

योनि से शरीर बनता है। अर्थात् शरीर–मनुष्य, बन्दर, कुत्ता, बिल्ली, तोता, मैना, साँप, बिच्छु अथवा गुलाब, गेंदा, ये सब स्त्री के उत्पत्ति-स्थान (योनि) के अनुसार बनते हैं।

इसका अर्थ यह है कि यदि पुरुष-कण (sperm) किसी विपरीत जाति की योनि में जा पड़े तो भी सन्तान नहीं हो सकती, क्योंकि सन्तान तो स्त्री की योनि के अनुसार ही होती है। वह पुरुष-कण व्यर्थ जाएगा।

इसमें प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि किसी कुत्ते का शुक्र मदीन गधे की योनि में जा गिरे तो क्या होगा? वैदिक सिद्धान्त के अनुसार सन्तान नहीं होगी। विपरीत योनि शुक्र को ग्रहण नहीं करेगी।

डार्विन के जन्तु जातियों में अदला-बदली के विवाद पर अन्य कई वैज्ञानिकों का मतभेद रहा है और उन्होंने डार्विन के वाद पर कई संशोधन उपस्थित किए हैं। एक विद्वान् वैज्ञानिक ने ऐन्साइक्लोपीडिया में इन सबके विषय में लिखा है–

The weakest link in all these theories, including Darwin's, was the lack of detailed knowledge of the laws of heredity and variation. Thus the complaint was often made that the theory of natural selection was essentially negative: it accounted for the extinction of some forms, persistence of others by the `survival of the fittest'...

(Ency. Brit. (1968) Vol. 8 p. 917 d)

अर्थात्–डार्विन-सहित इन सबके वादों में सबसे अधिक ढीली कड़ी है जातियों की परम्परा और उनमें परिवर्तनों की व्याख्या की अनभिज्ञता। इस कारण आपत्ति यह रही है कि प्रकृति के चुनाव का विचार वास्तव में एक नकारात्मक कथन ही है। यह बताता है कि कौन-कौन से प्रकार समाप्त हो गए है। और कौन-से विद्यमान हैं, जिसे योग्य का जीवित रहना कहा गया है।

क्यों और किस प्रकार ये वाद नहीं बताते? क्या वैज्ञानिकों ने अब यह पता कर लिया कि जाति परिवर्तन कहाँ से आरम्भ होता है?

वर्तमान शताब्दी के वैज्ञानिक अब यह समझने लगे हैं कि वे इस रहस्य को पाने के अति समीप पहुँच गए हैं। इस विषय में एक वैज्ञानिक इस प्रकार लिखता है। पहले वह जन्तु जाति का विश्लेषण करता है। 'जन्तु जाति विचार' (The Species Concept) के शीर्षक के अन्तर्गत 'ऐन्साक्लोपीडिया' में लिखा है–

The most obvious criterion for a species is a constant difference in kind from all other species, but this immediately encounters difficulties. Offspring from the same parents may differ conspicuously from each other, not only among human beings, domestic animals and cultivated plants, but also in wild species. These differences can often be shown to be heritable and fixable by in-breeding. (Ibid. Vol. 8, p. 918a)

अर्थात्–एक जन्तु-जाति की प्रत्यक्ष पहिचान स्पष्ट रूप में उसकी दूसरी जन्तु-जातियों से निरन्तर भिन्नता बनी रहनी है, परन्तु इसके मार्ग में तुरन्त एक कठिनाई उपस्थित होती है। एक ही माता-पिता की सन्तान में, मनुष्यों में ही नहीं, पालतू जन्तुओं में ही नहीं, वरन् जंगली जन्तु-जातियों में भी रूप-रंग में प्रत्यक्ष अन्तर दिखलाई देने लगता है। यह अन्तर उनकी सन्तान में भी प्रकट होता दिखाई देता है।

लेखक आगे कहता है–

Other possible criteria are given by physiological characters. Thus injection of proteinaceous substances e.g. blood cells or blood serum, from individuals of one species (donor) into those of another (recipient) leads to the development in the latter of antibodies that tend to react specifically with the substance of donor species. But this is not an absolute criterion. (Ibid. Vol. 8, p. 918 b)

अर्थात्–(जाति-पहचान में) अन्य सम्भव पहिचान है शरीर में उत्पन्न होनेवाले पदार्थों में भेद। उदाहरण के रूप में जब किसी प्रोटीन रखनेवाले (शरीर में उत्पन्न)

पदार्थ का इंजैक्शन किसी दूसरे व्यक्ति को दिया जाए तो भेद होने पर प्रभाव होता है। रक्त-कोषाणु अथवा रक्त-'सीरम' जब एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति में दिया जाए और देनेवाले और लेनेवाले में भेद हो तो प्राप्त करनेवाले शरीर में विपरीत पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु यह पहचान निश्चयात्मक नहीं है।

एक अन्य पहचान का भी उल्लेख है। कहा है–

Since the discovery that heredity is carried by certain minute threadlike structures, the chromosomes, present in the nuclei of cells in characteristic number and skize in each species, the possibility has arisen that these characteristics might be used to define the species. It has turned out, however, that conspicuous differences in the chromosome set can occur between strains of the same species and, indeed, between offspring of the same parents, where as in other cases, the set differs little, if at all in two clearly defined species.

(Ibid. Vol. 8, p. 918 b)

अर्थात्–जब से यह पता चला है कि पैतृक विशेषताएँ चलती हैं कोषाणुओं की केन्द्रिका में क्रोमोजोम्ज (धागों की भाँति के पदार्थ) की लम्बाई, मुटाई और चौड़ाई से एवं संख्या से, तो यह विचार उत्पन्न हुआ कि इनसे जन्तु-जातियों में भेद का पता किया जाए। परन्तु यह देखा गया है कि एक जन्तु-जाति के कोषाणुओं में ही जन्तुओं के क्रोमोजोम्ज की विशेषताओं में भेद (अन्तर) होता है और एक ही माता-पिता की सन्तान के क्रोमोजोम्ज की विशेषताओं में भी अन्तर होता है। साथ ही सर्वथा भिन्न-भिन्न जातियों के कोषाणुओं में क्रोमोजोम्ज की संख्या, लम्बाई और चौड़ाई में अन्तर नहीं भी होता।

इस पर अपनी ओर से कुछ भी विचार प्रकट न करते हुए इतना ही कहा जा सकता है कि अभी तक वैज्ञानिक भी जन्तु-जातियों की विशेषताओं के विषय में स्पष्ट भेद बताने में सफल नहीं हो रहे और जब तक वे इस अन्तर को बता नहीं सकते तब तक उन हो रहे परिवर्तनों के विषय में कुछ भी कहना कोरी कल्पना मात्र ही हैं।

वैदिक विज्ञान में जातियों में मतभेद का गुर हम बता चुके हैं। वह है "योनि से शरीर बनता है।" अर्थात् माता-पिता से सन्तान का शरीर बनता है। इस विषय में भी, ऐन्साइक्लोपीडिया में लिखनेवाला कहता है–

....As persistent differences are continually arising among the descendents of single individuals, the naming of species in these cases is wholly a subjective matter. (Ibid)

अर्थ–क्योंकि एक माता-पिता से उत्पन्न सन्तान में भी अन्तर निरन्तर दिखाई

देते हैं, इस कारण सन्तान से जन्तु-जाति मानना मिथ्या युक्ति है।

इन सब उद्धरणों को देने से हमारा तात्पर्य यह है कि वर्तमान युग का वैज्ञानिक अभी यह भी नहीं जान सका कि जाति में भेद क्या है और कहाँ है। इस अन्तिम उद्धरण से यह पता चलता है कि वर्तमान युग का वैज्ञानिक नाक, कान इत्यादि में अन्तर से ही जाति-भेद मान रहा है। इसी प्रकार ऊपर के उद्धरणों से यह भी प्रकट होता है कि वह जाति-जाति में अन्तर के विषय में अभी अन्धेरे में टटोल रहा है। यह नहीं कि वैदिक सिद्धान्त की सचाई को वह देखता नहीं। वह देखता तो है, इसे देखकर भी उसको मान्यता देने के लिए बगलें झाँकता प्रतीत होता है।

यह लिखता है–

...In forms with bi-parental reproduction, however, there is another criterion that must be considered, the ability to cross-breed. Perhaps these forms can be put in different groups, within each of which crossing is possible but between which crossing is impossible; and these groups may be the true species.

(Ibib. Vol. 8, p. 918 b)

अर्थात्–दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के माता-पिता से उत्पन्न सन्तान एक अन्य पहचान उपस्थित करती है, जिस पर विचार करना चाहिए। इसमें योग्यता ही विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कुछ जातियों के साँझी सन्तान हो सकती है और कुछ में नहीं हो सकती। जिनमें साँझी सन्तान हो सकती है वे जन्तु-जातियाँ एक समान हैं अर जिनमें सन्तान नहीं हो सकती, वे भिन्न-भिन्न जाति की हैं और जन्तु-जातियों के ये विभाग, वास्तविक जातियाँ हैं।

इस विषय में लेखक यह भी देखता है–

Crosses have been made by N. H. Newman between a killi fish and a macherel, forms that are put in different orders and are as different as any of the modern bony fishes. The hybrids die at an early stage but develop far enough to show characters of both parents.

(Ibid.)

एक ऐन. ऐच. न्यूमैन ने 'किली फिश' (एक प्रकार की मछली) और मैकर्ड (एक दूसरी प्रकार की मछली) में सन्तान पैदा की है, परन्तु इनकी सन्तान शीघ्र ही मर जाती है। इस पर भी सन्तान में दोनों प्रकार की जाति के लक्षण पाए जाते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैज्ञानिक भूल गया है कि वह सिद्ध करने क्या जा रहा है। इस उदाहरण से क्या यह सिद्ध नहीं होता कि द्वि-जातीय सन्तान

नियम नहीं। समीप-समीप जातियों की सन्तान होती ही नहीं अथवा जब होती है तो शीघ्र ही मर जाती है। लेखक यह भी कहता है–

There are a few apparently authentic reports of fertile mules, and examples can be given to illustrate every gradation from rare to complete fertility of hybrids...It is common to obtain utterly different results from reciprocal crosses.

(Ibid. Vol. 8, p. 918c)

अर्थात्–कुछ (बहुत कम) विश्वस्त खबरें हैं कि खच्चर ने बच्चा दिया है और ऐसे उद्धरण दिए जा सकते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि भिन्न जातीय माता-पिता की सन्तान (hybrids) सर्वथा उर्वरताविहीन जन्तु से पूर्ण उर्वर वाले उत्पन्न हो सकते हैं। ...यह भी सर्वसिद्ध है कि उक्त कथन से उलट परिणाम मिलते हैं।

यहाँ लेखक इच्छा को सत्य (wishful thinking) समझने लगा प्रतीत होता है। सब कुछ मानने के उपरान्त अपने कथन को सर्वमान्य सिद्धान्तों के विपरीत स्वीकार कर गया है।

हमारा ज्ञान यह है कि द्विजातीय माता-पिता से उत्पन्न सन्तान, या तो होती ही नहीं और यदि बहुत ही समीप-समीप प्रकार की जातियों के माता-पिता में सन्तान हो भी जाती है तो शीघ्र ही मर जाती है और आगे उसकी सन्तान नहीं होती।

अतः वैदिक सिद्धान्त यह है कि जाति-परिवर्तन न हुआ है न हो सकता है।

जैसी जाति आरम्भ में उत्पन्न हुई है, वैसी ही अन्त सृष्टि तक चलती रहेगी। हाँ, यह देखा गया है कि दुर्बल जातियाँ प्रकृति का विरोध न कर सकने के कारण पृथिवी पर से निःशेष हो गई हैं और भविष्य में भी होती रहेंगी।

विकासवाद के चार साक्षी

(1) जन्तुओं के शरीर में समानता। इसके लिए अंग्रेजी का शब्द है–होमोलोगस (homologus)। इसका अभिप्राय है कि भिन्न-भिन्न जन्तु-जातियों के शरीरों में एक समान अंगों का होना। कुछ में वे अंग व्यवहार में न आने के कारण मृतप्राय, शिथिल अथवा विकृत हो गए हैं। उनकी सन्तानें वैसी ही होने लगी हैं।

इसका एक उदाहरण यह दिया जाता है कि मनुष्य की दो टाँगें और दो हाथ होते हैं। इसी प्रकार एक मुर्गे की दो टाँगें और दो पंख होते हैं। पंखों की हड्डियों की बनावट और मनुष्य की भुजाओं की हड्डियों की बनावट में समानता है। इससे यह अनुमान लगाया गया है कि मनुष्य और मुर्गे दोनों किसी एक

जन्तु-जाति की सन्तान हैं, जिसके हाथ-पाँव चारों ही काम करते थे।

मनुष्य की बाँहें और मुर्गे के पंख होमोलोगस कहे जा सकते हैं। इस प्रकार के अनेकों ही अन्य उदाहरण हैं। इनमें एक अन्य उदाहरण दिया जाता है। मनुष्य की रीढ़ की हड्डी के नीचे के तीन कशेरू बन्दर की दुम के शेष हैं। इससे यह सिद्ध किया जा रहा है कि बन्दर और मनुष्य के पूर्वज एक थे।

एक अन्य उदाहरण दिया जाता है–

ह्वेल मछली के अगले अंग (हाथ) बाहर दिखाई नहीं देते, परन्तु इसके शरीर की हड्डियों में हाथों के स्थान पर हड्डियाँ होती हैं जिनसे यह अनुमान लगाया गया है कि मछलियाँ पशुओं की पूर्वज हैं, अथवा मछलियों, मनुष्यों और पशुओं के पूर्वज साँझे हैं।

(2) दूसरी साक्षी इस प्रकार कही गई है। मनुष्य जो विकास की शृंखला की अन्तिम कड़ी है, वह जब माँ के गर्भाशय में बनता है तो एक कोषाणु जन्तु से लेकर, मनुष्य की वर्तमान रूपरेखा तक, विकास के सब स्तरों के रूप ग्रहण करता है। शुक्राणु और डिम्ब के संयोग के उपरान्त प्रथम कोषाणु 'अमीबा' के प्रकार का होता है। तदनन्तर इसके उत्तरोत्तर रूप मछलियों, मेंढकों, पक्षियों और पशुओं के समान होते जाते हैं। माँ के गर्भाशय में नौ मास में यह पूर्ण मनुष्य के बच्चे के समान हो जाता है। इससे कहा जाता है कि मनुष्य अपने विकास की पूर्ण कथा दुहरा देता है।

(3) यह अंगों के कार्य में समानता है। जो-जो अंग प्रयोग में नहीं आते वे अंग शिथिल अथवा विलुप्त होते जाते हैं। इस पर भी उनके चिह्न बने रहते हैं। अंगों की बनावट को अंग्रेजी में मोर्फोलॉजी (morphology) कहते हैं। यह कहा जाता है कि अंग के रूप और कार्य का सम्बन्ध है। जो जन्तु भागकर जान बचाते रहे हैं वे हिरण की-सी टाँगोंवाले हो गए हैं। तेज भागने के लिए चार टाँगें ही अधिक उपयुक्त होती हैं, अतः उनके अगले हाथ भी टाँगों के समान हो गए हैं। खरगोश और हिरण इत्यादि इसी के उदाहरण हैं।

(4) भूमि की भिन्न-भिन्न परतों में दबी हुई जो हड्डियाँ पाई जाती हैं, उनसे पता चलता है कि पहले किस प्रकार के जन्तु थे। और धीरे-धीरे ऊपर-ऊपर की परतों पर अधिक और अधिक विकास पाए जन्तुओं के अवशेष पाए गए हैं। इससे यह सिद्ध किया जा रहा है कि पुराने और अधिक पुराने काल में कम से कम विकसित जन्तु-जातियाँ यहाँ थीं। खोपड़ियों को साक्षीरूप में उपस्थित किया जा रहा है।

हम समझते हैं कि ये सब प्रमाण कल्पना मात्र हैं। जो बात निर्विवाद है वह है प्रकृति का एकरस होना। उसका सर्वत्र एक समान होने से ही संसार के सब भिन्न पदार्थ बने हुए हैं। प्रकृति के परमाणु (ultimate particles)

से लेकर पंच महाभूतों तक तो परम्परा चली है। परम्परा का अभिप्राय है एक से दूसरा बनना, अर्थात् एक अपने से पहले की सन्तान है। हमारा अभिप्राय है कि परमाणु से महत् बनता है। महत् से अहंकार बनते हैं। अहंकारों से पंच महाभूत बनते हैं। परन्तु इसके उपरान्त यह परम्परागत व्यवहार दिखाई नहीं देता।

हम यह ऊपर बता आए हैं कि पंच महाभूत परिमण्डलों के पाँच प्रकार के स्वभाव के कारण हैं। ये परिमण्डल (atoms) अपने स्वभाव के विचार से पाँच श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। वे श्रेणियाँ हैं–(1) आकाशीय, (2) वायवी, (3) आग्नेय, (4) जलीय और (5) पार्थिव। वर्तमान विज्ञान के एक सौ तीन प्रकार के परिमण्डल (atoms) इन पाँच श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं।

अतः वर्तमान विज्ञान की भाषा में बात करें तो यह इस प्रकार होगी–मूल प्रकृति (primordial matter) से इलैक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन, और फिर इनसे ऐटम (परिमण्डल) बने। परिमण्डलों से जगत् के अनेकानेक पदार्थ बने। परम्परागत व्यवहार यहाँ तक ही है। इन पदार्थों के बनने के उपरान्त परम्परा नहीं चलती। प्रत्येक पदार्थ सीधा परिमण्डलों से बनता है। यदि उदाहरण लें तो इस प्रकार होगा–चीनी, कार्बोज (carbo-hydrates) और सैल्युलोज (cellulose) ये तीनों पदार्थ कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से बने हैं। तीनों सीधे इन रासायनिक तत्त्वों से ही बनते हैं। यह नहीं कि चीनी से कार्बोहाईड्रेट बना हो और कार्बोहाईड्रेट से सैल्युलोज बना हो। इसी प्रकार प्रकृति में उत्पन्न होने वाले अन्य अनेकों पदार्थ देखे जाते हैं। परिमण्डलों से जगत् के अनेकानेक पदार्थ पृथक्-पृथक् बनते हैं।

यही बात जन्तुओं के शरीरों में प्रतीत होती है। जन्तुओं के शरीरों में कोषाणु तो कुछ एक रासायनिक तत्त्वों से बनते हैं, परन्तु जब कोषाणु बन गया तो फिर एक कोषाणु-जन्तु से अनेक कोषाणु-जन्तु बनते नहीं देखे जाते। एक बार कोषाणु बन गए तो फिर जन्तु जन्तुओं पें परम्परा चलती प्रतीत नहीं होती। इस परम्परा का कोई उदाहरण दिखाई नहीं देता। हमारे कथन का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि दो भिन्न-भिन्न प्रकार की जन्तु-जातियों में संयोग से सन्तान नहीं होती। यदि होती है तो वह कुछ ऐसा ही है जैसे गोल सुराख में कोनेदार कील बलपूर्वक गाड़ दी जाए। इसका परिणाम यह निकलता है कि लकड़ी क्षत-विक्षत हो शीघ्र ही टूट-फूट जाती है। यही बात ऐन. ऐच. न्यूमैन के परीक्षणों से सिद्ध हुई है। द्विजातीय माता-पिता की सन्तान या तो होती ही नहीं, और कभी होती है तो चिरकाल तक जीवित नहीं रहती। वह सन्तान आगे अपनी परम्परा चला नहीं सकती।

विकास की सम्भावना का अनुमान पर्णांग (fern) के व्यवहार से लगाया जाता है। पर्णांग पौधों की एक प्रकार से, गीली वस्तुओं पर फफूंद है। ये बहुत छोटे-छोटे पौधे होते हैं। इनमें जाति-परिवर्तन होता माना जाता है। यह इस कारण

कि इन पौधों में एक ही स्थान पर स्त्री और पुरुष-कण उपस्थित देखा गया है। कभी-कभी तो ये (स्त्री और पुरुष-कण) एक ही कोषिका (cell) में पाए जाते हैं। इनके पौधों में यह भी देखा जाता है कि इनके पुरुष-कण (sperms) जल में तैरते रहते हैं और उचित स्थान पर नया पौधा बना देते हैं। कभी-कभी एक पौधा पहले उभयलिंगी होता है और फिर कभी स्त्रीलिंगी बन जाता है और कभी पुरुष-लिंगी। इसे होमो-फ्रोडाइट (homo-phrodite) कहते हैं। इससे विकासवादियों ने यह विचार प्रकट किया है कि परिस्थितियाँ बदल जाने से नवीन जातियाँ बन सकती हैं।

हमारा यह कहना है कि पर्णांग विकासवाद अर्थात् एक जन्तु-जाति से दूसरी जन्तु-जाति बनने का प्रमाण नहीं है। यह इस बात का प्रमाण हो सकता है कि यदि बहन-भाई का संयोग हो जाए तो भी सन्तान हो सकती है अथवा एक ही घर में दूल्हा और दुल्हन हो सकते हैं।

यह ऊपर बताया जा चुका है कि कोषिकाओं में वृद्धि विखण्डन (fisson) से भी हो सकती है अर्थात् एक ही कोषिका विभक्त होकर दो हो जाती हैं। परन्तु यह नवीन जन्तु की सृष्टि नहीं होती। नवीन सृष्टि में जीवन के सब अंग होने चाहिएँ। जीवित शरीर इन्द्रियों और जीवात्मा का समूह होता है। कोषाणुओं के विखण्डन से नए कोषाणु की सृष्टि के साथ नए प्राणी की सृष्टि नहीं हो सकती। जीवात्मा उसमें नहीं आता।

इससे प्रश्न उत्पन्न होता है एक अमीबा में अथवा इसी प्रकार के एक कोषाणु वाले जन्तुओं में क्या होता है? हम समझते हैं कि इनमें स्त्री-कण और पुरुष-कण एक ही कोषाणु में होते हैं। ये क्रोमोजोम्ज के रूप में ही होते हैं। इस विषय में इस दृष्टि से अभी जाँच-पड़ताल नहीं की गई।

हमने विकासवाद का खण्डन करते हुए युक्ति और प्रमाणों से अपना पक्ष उपस्थित किया है, इस पर भी यह एक अति रोचक विषय है और इस विषय में दोनों पक्षों में प्रमाण तथा युक्तियाँ संचय की जा रही हैं और की जाती रहेंगी।

विकासवाद कोई नया मत नहीं है। यूनान के अरस्तू भी इसी प्रकार के विचार रखते थे, परन्तु उस समय भी और अब भी दूसरा मत भी है। विकासवाद के पक्षपातियों को कदाचित् इस बात को मानने में संकोच होता है कि हाथी और ह्वेल मछली जैसे बड़े-बड़े जन्तु कैसे बन गए। हम इनको किसी प्रकार की युक्ति नहीं समझते। जब सूर्य और उससे भी बड़े-बड़े नक्षत्र और तारे बन सकते हैं तो हाथी और ह्वेल मछली की उनके सम्मुख क्या गणना है?

अष्टम अध्याय

पुरुष-प्रकृति-सम्बन्ध

परमात्मा पूर्ण व्योम (space) में व्याप्त है। ब्रह्म सूत्र में कहा है– "अक्षरमबरान्तधृतेः।।" (1-3-10) अम्बर (व्योम) के अन्त तक परमात्मा व्याप्त है। इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा सर्वव्यापक है।

परन्तु इस सर्वव्यापकता से पुरुष-प्रकृति का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। इसकी सिद्धि दो स्थानों पर होती है। एक तो जगत् में गतिशील जड़ पदार्थों में और दूसरे प्राणी के शरीर में। प्राणी का शरीर और जड़ जगत् के गतिशील पदार्थ एक ही अर्थात् परमात्मा की शक्ति से कार्य करते हैं।

जड़ जगत् में बहुत बड़े-बड़े ग्रह और तारागण बहुत ही तीव्र गति से चक्कर काट रहे दिखाई देते हैं। साथ ही उनकी गति सीधी रेखा में नहीं है। वे अण्डाकार गति में घूम रहे हैं। यह एक प्रमाण है परमात्मा और प्रकृति के सम्बन्ध का। जहाँ जगत् की रचना नहीं, वहाँ परमात्मा और प्रकृति का सम्बन्ध ऐसा है, जैसा माण्डूक्य उपनिषद् में जगत् की तुरीयावस्था में वर्णन किया गया है। वहाँ कहा है–

नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानधनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।। (माण्डू. 7)

अर्थात्–तुरीय चौथी अवस्था में (जो कुछ भी होता है वह) न तो (जाग्रत अवस्था की भाँति) प्रत्यक्ष चेतना वाला, न ही (सुषुप्ति अवस्था की भाँति) छुपी चेतना वाला, न ही (स्वप्नावस्था की भाँति) दोनों प्रकार की चेतना वाला होता है। न केन्द्रित चेतना वाला, न ही विस्तारवाली चेतना वाला, वह न अविस्तारवाली चेतना वाला होता है। वह दिखाई न देने वाला, व्यवहार न करता हुआ, ग्रहण न किया जा सकने वाला, लक्षण रहित, न चिन्तन योग्य, न कहने योग्य, एक सार रूप तत्त्व, शान्त हुए प्रपंच में एक अद्वितीय, कल्याणकारी माना जाता है। वह परमात्मा है और जानने योग्य है।

जहाँ जगत् नहीं, वहाँ परमात्मा व्यापक होता हुआ भी असम्बद्ध ही रहता है। वहाँ उसका होना, न होना भी प्रकट नहीं होता। वह कार्य-जगत् की अवस्था में ही प्रकट होता है।

प्रकृति निश्चल है, परन्तु जब परमात्मा से उसका सक्रिय सम्बन्ध बनता है तो जगत् रचना होती है। यह सम्बन्ध कैसे होता है? हम पूर्व अध्यायों में (ऋ. 1-163-1, 2, 3, 4, 5 और ऋ. 10-129-3, 4, 5 के अनुसार) बता आए हैं।

जब तक यह सम्बन्ध बना रहता है, तब तक रचना-कार्य चलता रहता है। परमात्मा का सम्बन्ध प्रकृति और प्राणी से भी होता है। यह सम्बन्ध वेदमन्त्रों में (ऋ. 1-164-20 तथा ऋ. 1-164-1 में) वर्णन किया गया है।

इसका यह अर्थ है कि परमात्मा सर्वव्यापक है। वह, जहाँ तक व्योम है, वहाँ तक अधिष्ठित है। इसकी व्यापकता और अधिष्ठितता जड़-जगत् और प्राणी-जगत् दोनों पर है।

इस विषय में इतना और बता देना ठीक रहेगा कि परमात्मा का अस्तित्व प्रकृति और प्राणी के संयोग में ही आकर पता चलता है। अन्यथा परमात्मा की उपस्थिति कुछ वैसी ही हो जाती है, जैसी ऊपर माण्डूक्य उपनिषद् में वर्णन की गई है।

जगत् से भी, परमात्मा का जब सम्पर्क बनता है तो ऐसे ही है जैसे ऋ. 1-164-20 में वर्णन किया गया है। यहाँ बताया है कि जैसे एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हों और एक तो उस वृक्ष के फलों का स्वाद लेता है और दूसरा एक साक्षी के रूप में देखता है। वृक्ष के फलों का रस लेने वाला जीवात्मा है और जो केवल साक्षी मात्र है वह परमात्मा है। प्राणी का शरीर वृक्ष की भाँति है और इसमें दोनों आत्मतत्त्व उपस्थित होते हैं। जीवात्मा तो शरीर का अधिष्ठाता है, परन्तु परमात्मा शरीर में प्राणशक्ति प्रदान करता है। परमात्मा सर्वव्यापक होने से शरीर में भी उपस्थित है। मस्तिष्क की गुहा में जीवात्मा और परमात्मा का सान्निध्य होता है, क्योंकि जीवात्मा तो केवल वहाँ पर ही उपस्थित होता है।

इस मन्त्र में प्रकृति के लिए वृक्ष का शब्द इस कारण प्रयोग किया गया है क्योंकि वृक्ष भी प्रकृति की भाँति काट-छाँटकर प्रयोग में लाया जाता है।

प्राणी को प्राण परमात्मा की देन है। यह जीवात्मा की सामर्थ्य का सूचक नहीं। मनुष्य-शरीर में प्राण की सहायता से ही सब कार्य सम्पन्न होते हैं।

वेद (ऋ. 1-164-1) में कहा है कि परमात्मा अपने सात पुत्रों से शरीर की रक्षा और पोषण करता है। वहाँ सात पुत्रों से अभिप्राय सात प्राणों से ही है। प्राण शक्ति परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी से भी प्राप्त नहीं होती।

इस कारण प्राण और परमात्मा में भेद नहीं हो सकता। वेद में ऐसा ही कथन है। वहाँ कहा है–

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्।।

(अथर्व. 11-4-1)

अर्थात्–प्राण को नमस्कार है, जिसके वश में यह सब है (सबसे अभिप्राय है जगत्)। जो सब उत्पन्न (बने) हुए का ईश्वर (बनाने वाला) है और जिसमें सब-कुछ टिका हुआ है।

यहाँ यह कहा है कि प्राण और परमात्मा एक ही हैं। ईश्वर ने सब जगत् को बनाया है और उस पर वह छाया हुआ है। यजु. 40-1 में भी यही कहा है कि ईश्वर सब चलायमान जगत् पर छाया हुआ है अर्थात् उसकी ही सामर्थ्य से वह बनता, चलता और लय को प्राप्त होता है।

यहाँ यह विचारणीय है कि शक्ति अर्थात् ऊर्जा (energy) और परमात्मा एक ही हैं अथवा ये दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। ऊपर दिए अथर्ववेद के मन्त्र से तो यह प्रतीत होता है कि परमात्मा और प्राण एक ही पदार्थ हैं। प्राण और शक्ति एक ही हैं। इस पर भी परमात्मा और प्राण में अन्तर है।

ऋ. 1-163-1 में कहा है–यमेन दत्तं त्रिता आयुनक्–यम (परमात्मा) द्वारा दी हुई शक्ति (अर्वन्) को त्रित (परमाणु) ने जोता। एनम् प्रथमः इन्द्र अधि अतिष्ठत्–सबसे पहले इन्द्र अर्थात् शासनकर्ता पर परमात्मा अधिष्ठित हुआ। यहाँ यम परमात्मा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। पृथक्-पृथक् शब्दों का प्रयोग इस कारण किया गया है कि परमात्मा का उसकी शक्ति से पृथक् बोध हो–यम नियन्त्रण करने वाला होने के कारण और प्राण शासन करने वाला होने के कारण।

इस मन्त्र से पता चलता है कि परमात्मा अर्वन् अर्थात् शक्ति (energy) से पृथक् है। शक्ति परमात्मा की है, परन्तु यह परमात्मा नहीं है। शक्ति शक्तिमान् से पृथक् ही होती है। शक्तिमान् शक्ति का प्रयोग करने वाला मानना ही होगा। शक्ति में ईक्षण गुण नहीं होता। परमात्मा शक्ति के प्रयोग का स्थान, काल, दिशा और अवस्था का निश्चय करता है।

अतः प्राण और परमात्मा एक नहीं हैं। प्राण के प्रयोग से परमात्मा की उपस्थिति का ज्ञान होता है। शरीर में जैसे जीवात्मा है वैसे ही सृष्टि-रचना में प्राण है। इससे यह स्पष्ट है कि प्राण जीवात्मा भी नहीं।

ब्रह्म सूत्र में यह भी कहा है–

तत्प्राक्श्रुतेश्च।। (ब्रह्मसूत्र 2-4-3)

अर्थात्–(प्राण) इस (जगत्-रचना) से पहले है, और ऐसा वेद में कहा है। जब सृष्टि-रचना होने लगी तो यह सबसे पहले उत्पन्न हुआ।

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः।। (ब्र. सू. 2-4-4)

अर्थात्–उसके सबसे पहला होने से वाणी उत्पन्न हुई।

जगत्-रचना में सबसे पहले प्राण उपस्थित होता है। वास्तव में यह परमात्मा में शाश्वत रूप में विद्यमान हैं। सृष्टि-रचना के समय पर इसका प्राकट्य होता है।

यह भी कहा है–

सप्त गतेर्विशेषित्वाच्च।। (ब्रह्मसूत्र 2-4-5)

अर्थात्–विशेष गतियों से ये सात हैं।

प्राणी के शरीर में अथवा कार्य-जगत् में ईश्वर की शक्ति (प्राण) सात प्रकार से कार्य करती है। कार्य-जगत् अर्थात् 'जगत्यां जगत्' में इसके रूप इस प्रकार हैं–(1) वायु, (2) अग्नि, (3) तन्मात्र (पाँच का समूह)।

ये सातों जगत् के सब कार्यों को करते हैं। वैसे तो ये एक ही हैं, परन्तु गतियों के कारण ये सात प्रकार के कहे जाते हैं।

पंच तन्मात्रसमूह की व्याख्या हम पहले कर चुके हैं। शेष हैं वायु और अग्नि। वायु वह शक्ति कहाती है जिससे जड़ पदार्थों में गति उत्पन्न होती है। अग्नि से ऊष्मा उत्पन्न होती है। ये सब परमात्मा के तेज का ही रूप हैं।

प्राणी-शरीर में इसके सात रूप इस प्रकार हैं–पाँच ज्ञानेन्द्रियों में, एक सब कर्मेन्द्रियों में और एक महाप्राण। इसे श्रेष्ठ भी कहते हैं। यह शरीर की सब नाड़ियों में रसों को प्रवाहित करता है। फेफड़ों में साँस लेना, रक्त-संचालन, मल-मूत्र का बाहर निकालना। भोजन को मुख से लेकर आँतों तक पहुँचाना इत्यादि कार्य महाप्राण करता है।

इन्द्र ही प्राणों को दीप्त करता है। दीप्त करने का अभिप्राय है कार्यान्वित करना (to bring into action)। कहा है कि प्राणी से सात पुरुष उत्पन्न हुए। ये सात पुरुष वही हैं जो वेदमन्त्र (1-164-1) में सात पुत्रों के नाम से स्मरण किए गए हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि प्राण परमात्मा की शक्ति और इसके सात रूप हैं। इनसे सृष्टि की रचना होती है। प्राणी में भी ये सात प्राण ही कार्य करते हैं।

वेदान्त दर्शन में कहा है–

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्।। (ब्र. सू. 1-2-11)

अर्थात्–प्राणी के मस्तिष्क की गुहा एक सूक्ष्म रिक्त स्थान में दो आत्म तत्त्व प्रविष्ट हुओं को देखने से (प्राणी के कार्य करने का ज्ञान होता है)।

गुहा से अभिप्राय है मस्तिष्क में एक सूक्ष्म स्थान। उसमें दो आत्म-तत्त्वों की उपस्थिति का ज्ञान होता है।

देखने का अभिप्राय है वस्तु के गुणों को देखना। उदाहरण के रूप में जब हम किसी मेज को देखते हैं, तो हम उसकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई तथा रंग-रूप को ही देखते हैं। उसकी चार टाँगों, उसकी कठोरता तथा अन्य बाहरी गुणों को ही देखते हैं। इन सब गुणों का समूह ही मेज है। इसी प्रकार जब हम मनुष्य में काम कर रहे प्राणों को देखते हैं तो उसमें परमात्मा की उपस्थिति का ज्ञान होता है। साथ ही जब हम प्राणी में सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न को देखते हैं तो प्राणी में जीवात्मा की उपस्थिति का दर्शन करते हैं।

कुछ व्याख्या में अध्ययन करने के लिए एक इन्द्रिय का उदाहरण लिया जा सकता है। श्रोत्र-इन्द्रिय को ले सकते हैं। शब्द-तरंगें जब कहीं से उत्पन्न होकर कान के पर्दे (tempanic membrane) से आकर टकराती हैं तो उसमें किसी प्रकार का कम्पन उत्पन्न होता है। यह कम्पन इस पर्दे के पीछे की हड्डी में चोट पहुँचाता है। उस हड्डी के पीछे शिरा (nerve) में शक्ति की तरंगें उत्पन्न होने लगती हैं। ये शक्ति की लहरें श्रवण-शिरा (auditary nerves) के द्वारा मस्तिष्क के पीले भाग में पहुँचती हैं। वहीं आभ्यंतरिक इन्द्रिय और मन उन तरंगों से शब्द का ज्ञान प्राप्त करते हैं। उस पीले पदार्थ से गुहा में उपस्थित जीवात्मा को शब्द का ज्ञान होता है। यदि उस शब्द पर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न होनी होती है तो जीवात्मा बुद्धि से सम्मति करता है और फिर उसके अनुसार कार्य का आदेश मन को दे देता है। तब मन उस प्रतिक्रिया के अनुसार उचित आदेश कर्मेन्द्रियों को कार्य करने के लिए देता है।

इस प्रकार कहीं शहनाई का शब्द सुन उस पर मुग्ध हो मनुष्य उस ओर चल पड़ता है अथवा किसी बाघ के गुर्राने को सुन भय से भाग खड़ा होता है। जहाँ शहनाई का शब्द सुनकर जीवात्मा को सुख और आनन्द अनुभव होता है वहाँ बाघ के गुर्राने को सुन भय और दुःख अनुभव होता है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्राण शक्ति परमात्मा प्राणी को किस प्रकार देता है? यह भोजन के द्वारा मनुष्य में जाती है। भोजन में दो विशेष पदार्थ होते हैं जो शक्ति को शरीर में ले जाते हैं। एक कार्बोहाईड्रेट (carbohydrates) हैं और दूसरे हायर-प्रोटीन (higher-proteins) हैं। कार्बोहाईड्रेट में ऑक्सीजन, हाईड्रोजन और कार्बन बहुत बड़े-बड़े अणुओं में उपस्थित होते हैं। ये बड़े-बड़े अणु प्राणी के पेट में जाकर विघटित होते हैं और उस शक्ति को वहाँ छोड़ते हैं जिनसे वे बने होते हैं।

अणुओं की शक्ति सूर्य की किरणों से उनमें आती है। सूर्य में वह शक्ति उसमें के अणुओं के टूटने से उत्पन्न होती है और प्रकाश-किरणों के द्वारा अन्न के अणुओं में आती है। सूर्य में विघटन परमात्मा के करने से हो रहा है। इस प्रकार परमात्मा की शक्ति प्राण के रूप में मनुष्य में पहुँच उसमें कार्य उत्पन्न करती है।

इसी कारण यह कहा है कि–

संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य।। (सांख्य. 1-66)

अर्थात्–सृष्टि-रचना का कार्य प्रकृति के अतिरिक्त किसी दूसरे के लिए होने से (शरीर में) पुरुष (जीवात्मा) का (ज्ञान होता है)।

यह वही बात है जो ब्रह्मसूत्र (1-2-11) में कही है। वह यह कि प्राणी के कार्य करने से उसमें परमात्मा का ज्ञान होता है।

ब्रह्मसूत्र (1-2-11) में यह बताया है कि शरीर जीवात्मा के लिए कार्य करता है और कार्य करने की शक्ति परमात्मा से प्राप्त होती है। इस तथ्य को ब्रह्मसूत्र में एक अन्य स्थान पर इस प्रकार कहा है–

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासंभवात्।। (ब्र. सू. 1-3-18)

अर्थात्–यह (परमात्मा की शक्ति दूसरे को) (जीवात्मा) के परामर्श से होती है। यदि कहो कि नहीं तो यह ठीक नहीं। असम्भव होने से।

अभिप्राय यह है कि शरीर में परमात्मा की शक्ति जीवात्मा के परामर्श से प्रयुक्त होती है। यह इस प्रकार है कि जैसे पैट्रोल पम्प में से पैट्रोल वितरित होता है। वहाँ से भिन्न-भिन्न दिशाओं और कामों पर जाने वाली मोटर गाड़ियाँ पैट्रोल भरवाकर ले जाती हैं और अपने-अपने काम पर चली जाती हैं। इसी प्रकार परमात्मा की ऊर्जा (जो सूर्य के द्वारा यहाँ आ रही है) प्राणी अपने में लेकर अपना-अपना कार्य करते हैं। प्राणियों को उनके कार्य का फल मिलता है।

नवम अध्याय

प्राणी में द्वितीय आत्म-तत्त्व (जीवात्मा)

हमने ब्रह्मसूत्र (1-2-11) के प्रमाण से यह बताया है कि प्राणी के मस्तिष्क की गुहा में दो आत्म-तत्त्वों के दर्शन होते हैं—एक परमात्मा है, जो सर्वव्यापक होने से वहाँ भी उपस्थित होता है और दूसरा जीवात्मा है। यह भी बताया जा चुका है कि प्राणी में प्राण-शक्ति परमात्मा से प्राप्त होती है। जब तक जीवात्मा शरीर में रहता है, वह उस प्राण-शक्ति से काम लेता है। क्योंकि जीवात्मा प्राणशक्ति से कार्य अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार लेता है, इस कारण अपने कार्य के फल-अफल का उत्तरदायी वह ही होता है।

भगवद्गीता में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के वृत्तान्त में इसी विषय पर कहा है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।

(भ. गी. 13-1, 2)

अर्थ—यह शरीर क्षेत्र है। इस क्षेत्र में अधिष्ठाता एक क्षेत्रज्ञ है। ऐसा वेद में कहा है। वह क्षेत्रज्ञ क्षेत्र को जानता है।

और मुझे (परमात्मा को) भी क्षेत्रज्ञ जान। मैं सब क्षेत्रों में उपस्थित हूँ। यह मेरा मत है कि जो इस बात को तत्त्व से जानता है वह ही ज्ञानी है।

यहाँ भी प्राणी के शरीर में दो आत्म-तत्त्वों का होना माना है।

इसी विषय में और भी कहा है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।। 15-16।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।। 15-17।।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।

(भ. गी. 15-18,19)

अर्थ—इस संसार में नाशवान् और अविनाशी दो (प्रकार के) पुरुष हैं। सम्पूर्ण भूत (महाभूतों से बने पदार्थ) नाशवान् हैं और गुहा में छुपा हुआ अविनाशी कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त उत्तम आत्म-तत्त्व दूसरा है। वह तीनों लोकों में विराजमान है। वह अविनाशी ईश्वर (परमात्मा) सबका पालनकर्त्ता है। ऐसा कहा जाता है।

"क्योंकि मैं नाशवान् (प्रकृति) से तो दूसरा हूँ, पर मैं दूसरे अविनाशी से भी पृथक् हूँ और इन दोनों से उत्तम हूँ इसलिए मैं लोगों में और वेद में भी पुरुषोत्तम कहाता हूँ।

"हे भारत! इस प्रकार तत्त्व से जो ज्ञानी मुझे पुरुषोत्तम जानता है, वह सब-कुछ जानता हुआ परमेश्वर को ही भजता है।"

प्राणी में जीवात्मा की सिद्धि सांख्य-दर्शन में इस प्रकार की गई है—

विशेषकार्येष्वपि जीवानाम्।।
सिद्धरूपबोद्धृत्वाद् वाक्यार्थोपदेशः।। (सां. 1-97, 98)

अर्थ—विशेष कर्मों से जीवात्मा का ज्ञान होता है।

चेतन होने की बात सिद्ध होने से इसकी सिद्धि है।

इन सूत्रों का अभिप्राय यह है कि प्राणी में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और चेतना ये जीवात्मा के लिंग हैं। इन लिंगों (विशेष गुणों) से प्राणी में जीवात्मा की सिद्धि होती है।

ये गुण किसी भी जड़ पदार्थ में नहीं पाए जाते। केवल प्राणियों में ही पाए जाते हैं।

संक्षेप में जड़ तथा चेतन के संयोग को ही जगत् कहते हैं। जगत् की रचना का अर्थ ही है चेतन तत्त्वों का जड़ प्रकृति से संयोग। जहाँ जड़ से केवल उत्तम पुरुष (परमात्मा) का ही संयोग होता है, वहाँ कार्य-जगत् के विभिन्न पदार्थ बने दिखाई देने लगते हैं और जहाँ परमात्मा और जीवात्मा दोनों का प्रकृति से संयोग होता है, वहाँ प्राणी की सृष्टि होती है।

जगत् में सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि पदार्थों में केवल परमात्मा और प्रकृति का संयोग है। परन्तु अमीबा से लेकर मनुष्य-पर्यन्त सब प्राणी तीनों अनादि तत्त्वों के संयोग से बने हैं। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों ही इसमें कार्य कर रहे होते हैं। एक वेदमन्त्र में इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।।

—ऋ. 1-164-20

अर्थात्—प्रकृतिरूपी वृक्ष पर दो चेतन तत्त्व विराजमान हैं। वे परस्पर समान सम्बन्ध रखने वाले, सखा भाव वाले, समान रूप में एक वृक्ष (प्रकृति से बने प्रपंच) पर विद्यमान हैं। उनमें से एक प्रकृति का भोग करता है और दूसरा केवल साक्षी मात्र है।

इसी भाव को कुछ अधिक व्याख्या के साथ भगवद्गीता में इस प्रकार कहा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।।
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।

—13-19, 20, 25, 21, 22

अर्थात्—प्रकृति और पुरुष इन दोनों को ही अनादि जानो और प्रकृति के परिणामों को इसमें से ही गुणों के कारण उत्पन्न हुआ जानो।

कार्य-जगत् और करण (इन्द्रियाँ) प्रकृति से ही बने होने के कारण (शरीर) अनित्य हैं और इनमें सुख-दुःख भोगने वाला पुरुष है।

पुरुष प्रकृति में स्थित, प्रकृति के गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) के कारण प्रकृति का भोग करता है। गुणों के सम्पर्क में आने के कारण अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेता है।

(दूसरा) पुरुष (परमात्मा) सबको देखने वाला, सबको ज्ञान का उपदेश देनेवाला, सबका पालन और लय करनेवाला है और जो देह में स्थित है वह दूसरा है।

यह है प्राणी-सृष्टि। यह पुरुष और प्रकृति के संयोग का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है।

दशम अध्याय

प्राणी-सृष्टि के प्रकार—स्थावर और जंगम

स्थावर सृष्टि है वनस्पतियाँ, जिनकी जड़ें भूमि में गड़ी होती हैं। और जंगम सृष्टि वह है जो भूमि के ऊपर गति करती है। इन श्रेणियों को अंग्रेजी में vegetable kingdom and animal kingdom कहते हैं।

इन दोनों श्रेणियों में भूमि में गड़ा होना और भूमि पर चलना-फिरना वास्तविक भेद नहीं है। यह भेद प्रत्यक्ष में दिखाई देता है, परन्तु यह भेद तात्त्विक नहीं है। इनमें वास्तविक भेद है इनके भोज्य पदार्थों में। वनस्पतियाँ सरल और सामान्य तत्त्वों को लेकर जटिल पदार्थों में बदल देती हैं।

उदाहरण के रूप में, वनस्पतियाँ हवा की ऑक्सिजन और उसमें उपस्थित कार्बन डाई-ऑक्साईड तथा जल की सहायता से कार्बो-हाईड्रेट्स बनाती हैं जो उनके अपने पोषण के काम में आते हैं और साथ ही प्राणियों के प्रयोग के लिए भी जमा भी करती हैं। और भी, सोडियम, पोटेशियम तथा कैलशियम तत्त्वों को लेकर अथवा इनके सरल संयुक्त पदार्थ लेकर इनके विषम संयुक्त पदार्थ higher compounds बनाती हैं और वे पदार्थ प्राणी के भोजन में बहुत ही आवश्यक कार्य निभाते हैं। इसी प्रकार वायु-मण्डल से नाइट्रोजन-हाईड्रोजन लेकर इनके विषम संयुक्त संयोग बना सकती हैं। इन संयुक्त पदार्थों को higher proteins कहते हैं। ये विषम पदार्थ प्राणियों के भोजन में प्रयुक्त होते हैं।

वैसे प्राणी भी जल शरीर में ले जाता है, परन्तु इसमें उपस्थित ऑक्सिजन और हाईड्रोजन शरीर-निर्माण में प्रयुक्त नहीं होता। यह प्राणी के शरीर में जाकर केवल वाहक मात्र का कार्य करता है।

इस प्रकार वनस्पतियों और जन्तुओं में वास्तविक अन्तर उनके भोजन में है। यही कारण है कि जन्तु अपना भोजन या तो वनस्पतियों से प्राप्त करता है अथवा जन्तुओं के माँसादि से। निम्न से निम्न कोटि के जन्तु भी केवल जल और वायु पर नहीं जी सकते। प्राणी वनस्पतियों से निर्मित पदार्थों पर ही निर्वाह कर सकता है। उनके बिना उसका जीवन नहीं चल सकता। प्राणियों के जीवन

के लिए वनस्पतियों का बनना आवश्यक है।

अतएव वनस्पति-जगत् और जन्तु-जगत् में अन्तर यही है कि वनस्पतियों का भोजन ऑक्सिजन, नाइट्रोजन तथा कार्बन डाई-ऑक्साइड तथा जल इत्यादि सरल पदार्थों से ही सम्पन्न हो जाता है जबकि जन्तुओं का भोजन बहुत ही विषम संयुक्त पदार्थों से हो सकता है। वैसे दोनों के शरीर की बनावट लगभग समान ही है। दोनों के शरीर जीवित कोषाणुओं के बने होते हैं। इन कोषाणुओं में कोषाणु दीवार, प्रोटोप्लाज्म, केन्द्रिका और केन्द्रिका में क्रोमोजोम्ज तथा उनमें जीन एवं RNA और DNA प्रोटीन्ज होते हैं।

दोनों के शरीर बनते भी एक प्रकार से हैं। पुरुष-कण और स्त्री-कण के संयोग से भ्रूण बनता है और उससे नया वृक्ष अथवा जन्तु बन जाता है। वनस्पतियों में पुरुष-कण (pollen) और स्त्री-कण अण्डा (ovum) कहाता है। जन्तुओं का भ्रूण वनस्पतियों में बीज (seed) कहाता है। जन्तुओं की भाँति वनस्पतियों में भी पुरुष-कण और स्त्री-कण एक कोषाणु का (unicellular) ही होता है।

दोनों में समानता इस बात में है कि दोनों में सन्तान माता-पिता के संयोग से ही होती है और जैसे माता-पिता होते हैं, वैसे ही सन्तान होती है।

दोनों के शरीर में जीवन होता है। जीवन जीवात्मा से भिन्न वस्तु है। यद्यपि जीवन और जीवात्मा साथ-साथ ही देखे जाते हैं, इस पर भी ये भिन्न-भिन्न हैं। यह इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। दोनों, वनस्पतियों और जन्तुओं में इनके शरीर का एक अंग काटकर उसी प्राणी में किसी दूसरे जगह पर अथवा किसी उसी जाति के दूसरे प्राणी के शरीर में लगाया जा सकता है। इसे पैबन्द लगाना कहते हैं।

वनस्पतियों में इस प्रकार पैबन्द लगाने के उदाहरण तो चिरकाल से विदित थे। एक आम के वृक्ष को दूसरे आम के वृक्ष से पैबन्द प्राचीन काल से लगाई जाती रही है। एक गुलाब की डाल की पैबन्द दूसरे गुलाब की डाल से लगाकर नई प्रकार के गुलाब के फूल उत्पन्न किए जाते रहे हैं। परन्तु अब डॉक्टर लोग जन्तुओं में भी एक का कोई अंग काटकर किसी दूसरे के उसी अंग के स्थान पर लगाने लगे हैं। इस दृष्टि से दोनों में समानता ही है।

इस पर भी इस प्रकार पैबन्द लगाने में एक शर्त है। वह यह कि दोनों वृक्षों का सजातीय होना आवश्यक है।

आजकल शल्य चिकित्सा वालों ने जन्तुओं में भी पैबन्द लगानी आरम्भ कर दी है। एक मनुष्य के अंग निकालकर दूसरे मनुष्य में लगा दिए जाते हैं। इसमें भी शर्त वही है जो वनस्पतियों में है। मनुष्य के अंग ही मनुष्य में लगाए जा सकते हैं। यह नहीं कि किसी भालू का कोई अंग निकालकर मनुष्य में लगाया जा सके। इसमें कारण यह कि कोषाणुओं में समानता होनी चाहिए।

कोषाणुओं में कोषाणु की दीवार और प्रोटोप्लाज्म तो सब में समान ही होते हैं। भेद केन्द्रिका (nucleus) में होता है। जहाँ भेद नहीं होता, वहीं पैबन्द लग सकता है। जैसे वनस्पतियों में जातियाँ हैं वैसे ही जन्तुओं में भी हैं। जातियों में उप-जातियाँ भी हैं। जैसे घोड़ा और गधा परस्पर उप-जातियाँ हैं।

उप-जातियों में पैबन्द लग सकती है। कभी सन्तान भी हो सकती है, परन्तु देखने में यह आया है कि वह सन्तान चिरजीवी नहीं होती अथवा इससे जन्तु की जाति नहीं चल सकती।

कुछ काल पूर्व अमेरिका के एक डाक्टर ने मनुष्य के अण्डकोषों को बन्दर के अण्डकोषों से बदलने की योग्यता प्राप्त कर ली थी। उसने कई स्थानों में ऐसी अदला-बदली की भी थी, परन्तु उससे यौन शक्ति में उन्नति होने पर भी सन्तान उत्पन्न नहीं हो सकी थी।

इस पूर्ण विवेचना का निष्कर्ष यह निकलता है कि शरीर प्राणी नहीं है। शरीर के अतिरिक्त कुछ अन्य भी इसमें होता है और जब वह शरीर में आकर विद्यमान हो जाता है तब ही उसको प्राणी की संज्ञा दी जा सकती है। वैदिक ज्ञान-विज्ञान इसको जीवात्मा कहते हैं।

भारतीय विज्ञान में जीवधारियों को चार श्रेणियों में बाँटा है—1. जेरज, 2. अण्डज, 3. स्वेदज, और 4. स्थावर। ये श्रेणियाँ शरीरों के विचार से हैं। यह प्राणियों में अन्तर नहीं है। स्थावर और जंगम का अन्तर भी शरीर का है।

जीवधारियों को हम केवल दो श्रेणियों में बाँटते हैं–एक मनुष्य और दूसरे सब इतर् जीव-जन्तु। इन इतर् जीवों में मनुष्य के अतिरिक्त अन्य सब जन्तु आ जाते हैं। मनुष्य और अन्य जीव-जातियों में अन्तर उनके मन-बुद्धि का है। मनुष्य के समान मन और बुद्धि किसी भी अन्य जीव में नहीं है। इसके कारण ही मनुष्य पृथिवी के सब जन्तुओं पर शासन करता है।

यह ठीक है कि सब मनुष्यों में भी मन और बुद्धि एक समान उन्नत नहीं होते, इस पर भी घटिया से घटिया मनुष्य की बुद्धि और मन श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर जीव से भी उन्नत होती है।

मन का सम्बन्ध है स्मरणशक्ति से। यह कहा जाता है कि साँप और हाथी में भी स्मरण रखने की शक्ति होती है। इसके प्रमाण भी मिलते हैं। इस पर भी आदि काल से लेकर आज करोड़ों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी ये जन्तु अपने को सर्दी-गरमी से बचाने के लिए वस्त्र अथवा मकान नहीं बना सके। यह इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य के अतिरिक्त जीव-जन्तुओं में मनुष्य जैसा मन और बुद्धि नहीं होते। यही मनुष्य का इनसे अन्तर है।

एकादश अध्याय

स्थावरों में जीवात्मा

वर्तमान वैज्ञानिक तो जीवात्मा के अस्तित्व को अपने विज्ञान से बाहर का विषय मानते हैं। वे इस विद्या को मैटा-फिजिक्स (metaphysics) कहते हैं। भारतीय विज्ञान में अध्यात्म विद्या को विज्ञान और विज्ञान के अन्तर्गत ही माना गया है। साथ ही इसको प्रमाण और युक्ति का विषय कहा है।

पाश्चात्य वैज्ञानिक जीव-जन्तुओं के विषय में अपनी खोज जीवात्मा और परमात्मा के अस्तित्व को माने बिना ही चला रहा है। वैदिक विज्ञानवेत्ता उनकी खोज और परीक्षणों को अन्तिम सच्चाई तक न पहुँचने वाला मानते हैं।

हमने जीवात्मा और परमात्मा को युक्ति और प्रमाण से पहले ही सिद्ध करने की चेष्टा की है। बिना इन दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किए बहुत-सी बातें समझाई ही नहीं जा सकतीं।

यहाँ हम इस विषय पर लिख रहे हैं कि स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के पदार्थों में समान रूप से जीवात्मा है अथवा नहीं। भारतीय दृष्टि से विचार करनेवालों में भी एक बहुत ही प्रबल मत है जो यह मानता है कि वनस्पतियों में जीवात्मा नहीं होता। इनके मत में सबसे बड़ा प्रमाण पेड़ों में पैबन्द लगना और एक पेड़ की डाल का दूसरे पेड़ में लग जाना है।

हमने यह ऊपर बताया है कि ऐसा अब जन्तुओं में भी किया जाने लगा है। यह सम्भव इस कारण हो सकता है कि जीवात्मा पूर्ण शरीर में व्यापक नहीं होता। यह शरीर की एक गुहा में रहता है। यह स्थान अति सूक्ष्म होता है। ब्रह्मसूत्र में इसको दहर कहा है। ज़ब तक उस स्थान को नष्ट न किया जाए, शरीर के अंगों में अदला-बदली करने से जीवात्मा को कुछ अन्तर नहीं पड़ता।

यह दहर-स्थान मनुष्य-शरीर में कहाँ है? इसका निर्णय इस बात से किया जा सकता है कि किस अंग को काट देने से जीवात्मा शरीर को छोड़ जाता है? कुछ विद्वान् हृदय (heart) को दहर का स्थान मानते थे। परन्तु अब तो

दिल भी बदलने का यत्न किया जा रहा है। कुछ के दिल बदलकर उनके जीवन को भी लम्बा किया जा सका है।

इसका अर्थ यह है कि जीवात्मा का निवास-स्थान हृदय नहीं है। हम समझते हैं कि स्थान मस्तिष्क में है। इसमें युक्ति यह है कि मस्तिष्क से ही मनुष्य के सब काम नियन्त्रित होते हैं। शरीर के सब कार्य करने वाले अंगों (कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों) के सम्बन्ध भी वहाँ से हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ यहीं एकत्रित होती हैं। ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान के अनुसार कर्म होता है और दोनों का संगम-स्थान मस्तिष्क ही है। इस कारण वह चेतन तत्त्व जो कार्य करनेवाला है उसे यहीं कहीं स्थान मिलना चाहिए।

कुछ लोग, जो जीवात्मा के अस्तित्व को नहीं मानते, कहते हैं कि यह मस्तिष्क ही है जो प्राणी में अनुभव करता है।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि मस्तिष्क एक प्राकृतिक वस्तु है। प्राणी के मरने के उपरान्त भी यह बना रहता है। मृत्यु के समय इसमें से कुछ (जीवात्मा) निकल जाता है तभी तो मृत्यु हो गई कही जाती है। मस्तिष्क का पदार्थ तो ज्यों का त्यों बना रहता है।

इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि वनस्पतियों में जीवात्मा का कौन-सा स्थान है? यह बताया जा चुका है कि जीवात्मा अणुमात्र (अति सूक्ष्म) है। अतः बृहत्-काय अश्वत्थ में जीवात्मा किस स्थान पर रहता है?

इस विषय में अभी तक प्राचीन विज्ञान के किसी ग्रन्थ में लिखा नहीं मिला। इतना ही कहा जा सकता है कि कदाचित् वृक्ष की जड़ों में कोई दहर-समान स्थान है जहाँ पर बैठा हुआ वह जीवात्मा अपना कर्मफल भोग रहा है। वह वहाँ पर अन्तःप्रज्ञ (प्राणी में स्वप्नावस्था जैसा) कहा जाता है।

माण्डूक्य उपनिषद में कहा है—

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः।
प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः।।

(माण्डू. 4)

जगत् की स्वप्न-अवस्था जाग्रत और सुषुप्ति अवस्थाओं के बीच की कही जाती है। इस अवस्था में जगत् अन्तश्चेतना वाला होता है। (इसका अभिप्राय है कि चेतना बाहर प्रकट नहीं होती, परन्तु वह अपने भीतर ही भीतर चेतन होता है) यह जगत् (यात्रा का) दूसरा पाद है। इसमें भी (जाग्रत स्थान की भाँति) सात अंग हैं और उन्नीस मुख हैं। इसके सात अंग हैं—(1) परमात्मा, (2) जीवात्मा, (3) सत्त्व, (4) रजस्, (5) तमस्, (6) तेज तथा (7) वायु। यहाँ तेज से अभिप्राय है परमात्मा की शक्ति, जिसे अग्नि भी कहा जाता है। वायु से अभिप्राय परमात्मा की वह शक्ति है जो गति उत्पन्न करती है।

उन्नीस मुखों से अभिप्राय है प्रकृति में परिवर्तन होने के स्थान। प्रकृति में उसका एक रूप दूसरे में परिवर्तित होने लगता है। बननेवाला रूप बदल रहे रूप का मुख कहा जाता है।[1]

ऐसी अवस्था वृक्षों की होती है। बाहर से वृक्ष अचेतन दिखाई देते हैं परन्तु भीतर से वे चेतन होते हैं। वे न केवल चेतन के सब कार्य करते हैं वरन् सुख-दुःख भी भोगते हैं।

अगला प्रश्न है कि वृक्ष में इन्द्रियाँ और मन होता है अथवा नहीं? प्राणी जैसी बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ तो नहीं होतीं, इस पर भी उनमें अनुभव करने की शक्ति होती है और फिर उस अनुभव की प्रतिक्रिया भी होती देखी जाती है। लाजवन्ती क्षुप्र का व्यवहार तो सर्वविदित ही है। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि किसी भी वृक्ष के बढ़ने में बाधा खड़ी कर दें तो यह अपने बढ़ने की नई दिशा ले लेता है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान
सम्पादकीय विभाग
शान्ति कुंज, हरिद्वार

---

1. विशेष विवेचना के लिए देखें लेखक की रचना 'अद्वैत-मीमांसा।'

द्वादश अध्याय

प्राणी के शरीर में कार्य

जड़ पदार्थों में परमात्मा से उत्पन्न गति तो एक निश्चित दिशा में ही होती है। गति का समय, स्थान, दिशा और ढंग परमात्मा ही निश्चय करता है। परमात्मा सर्वज्ञ होने से एक बार निश्चय करता है तो कार्य के अन्त तक वह पदार्थ निश्चित दिशा में एक गति से कार्य करता रहता है। इसके विपरीत जीवात्मा अल्पज्ञ होने के कारण अपने कार्यों की दिशा इत्यादि बदलता रहता है। यही कारण है कि प्राणी के कार्य स्थिर नहीं होते।

चरक संहिता (आयुर्वेद का विख्यात ग्रन्थ) में जीवधारी के लक्षण इस प्रकार कहे हैं–

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।।

(चरक. सूत्र. 1-41)

अर्थ है–(पंच महाभूत का बना) शरीर, इन्द्रियाँ, सत्त्व (मन, बुद्धि और जीवात्मा) के संयोग को जीवित प्राणी कहते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि एक जीवित प्राणी में शरीर, मन और बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा जीवात्मा–इन सबका संयोग होता है और जब तक इनका संयोग बना रहता है तब तक जीवन बना रहता है। इनमें से एक भी पदार्थ के चले जाने पर जीवन नहीं रह सकता।

सामान्य भाषा में जीवन कर्म को कहते हैं। प्राणी क्यों कर्म करता है? यह जीवात्मा का स्वभाव है। भगवद्गीता में कहा है–

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।। 3-5

क्योंकि कोई भी प्राणी, किसी काल में भी, एक क्षण के लिए भी बिना कर्म के नहीं रह सकता, अपनी प्रकृति (स्वभाव) के गुणों द्वारा विवश हुआ वह कर्म करता है।

न्यायदर्शन में भी जीवात्मा के लक्षणों में प्रयत्न एक लक्षण माना है। अतः

जीवात्मा अपने स्वभाव से विवश हुआ कर्म करता है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं। ब्रह्मसूत्र में इस विषय में कहा है—

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः।। (ब्र. सू. 3-1-11)

अर्थात्—श्रेष्ठ कर्म और पाप कर्म ही तो हैं। ऐसा बादरि ऋषि का कहना है।

श्रेष्ठ कर्मों के विषय में भगवद्गीता में कहा है—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।। 3-7

अर्थात्—जो मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं।

फिर यह भी कहा है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचार।। 3-9

अर्थात्—लोककल्याण के कर्मों के अतिरिक्त कर्म इस संसार में बाँधने वाले हैं। इस कारण निष्काम भाव से व्यवहार करो।

व्यवहार कर्मेन्द्रियाँ करती हैं। ये पाँच हैं—वाणी, हाथ, लिंग, गुदा और पाँव। ये कर्मेन्द्रियाँ मन के आदेश पर कार्य करती हैं। मन जीवात्मा का आदेश मानता है। जीवात्मा ज्ञानेन्द्रियों से उपलब्ध ज्ञान पर कार्य करता है। ज्ञान-इन्द्रियाँ हैं श्रोत्र, त्वचा, जिह्वा, चक्षु और घ्राण। ये इन्द्रियाँ भी मन से सम्बन्धित हैं और अपने सन्देश मन को पहुँचाती रहती हैं। मन ज्ञानेन्द्रियों के सन्देश जीवात्मा को दे देता है। जीवात्मा बुद्धि से सम्मति कर मन को उसके अनुसार कार्य करने का आदेश दे देता है और मन कर्मेन्द्रियों को आदेश दे देता है तथा कर्मेन्द्रियाँ उस पर कार्य करती हैं।

इन्द्रियों में कार्य करने की शक्ति को प्राण कहते हैं। प्राण के विषय में हम बता चुके हैं कि यह परमात्मा की शक्ति है, जो जीवात्मा को प्रयोग के लिए प्राप्त हुई है।

इन दस इन्द्रियों के कार्य के अतिरिक्त भी शरीर में कार्य होता रहता है। वे कार्य मन और बुद्धि के नियन्त्रण से बाहर हैं। उस कार्य के करने वाली शक्ति को महाप्राण कहते हैं। यह सातवाँ प्राण है। शरीर में जितने अंग नाड़ियों (tubes) की भाँति के हैं, उनमें ये प्राण कार्य करते हैं। नाड़ी में रक्त, रस, वायु इत्यादि बहती है। फेफड़ों में वायु आती-जाती है। धमनियों में रक्त चलता है। आँतों और रसवाहिनी नाड़ियों में रस चलता है। इसी प्रकार मल-मूत्र भी शरीर की नाड़ियों में चलता है। इन सबकी गति महाप्राण से ही होती है।

इस प्रकार शरीर के कर्म होते हैं। शरीर किसलिए कार्य करता है? एक तो अपने पालन के लिए। दूसरे, सुख की प्राप्ति के लिए। तीसरे, दुःख के निवारण के लिए।

इनके अतिरिक्त भी कुछ कर्म हैं, जो केवल मनुष्य ही करते हैं। इतर जीव-जन्तु उनको नहीं करते। वे कर्म मन, बुद्धि तथा जीवात्मा से सीधे सम्बन्ध रखते हैं। इनका सम्बन्ध मनुष्य के भविष्य से होता है। वे मनुष्य, जो इस जन्म को ही सब-कुछ मानते हैं, और वे भी जो पुनर्जन्म पर विश्वास रखते हैं, जब बुद्धि का प्रयोग करते हैं तो दूर भविष्य का विचार करते हैं और उसका प्रबन्ध करते हैं। पशु ऐसा नहीं कर सकते। कुछ जन्तु हैं जो स्वभाव से कुछ भविष्य का प्रबन्ध करते हैं। जैसे मधुमक्खियाँ हैं; अथवा पक्षी अपना घोंसला बनाते हैं। इस पर भी यह माना जाता है कि इतर् जीवों का यह काम स्वभाववश होता है। इसका बुद्धि से कुछ विशेष सम्बन्ध नहीं होता। जबकि सामान्य मनुष्य तीस-चालीस वर्ष, और कुछ तो इससे भी आगे अपनी सन्तान के लिए विचार करते हैं और उनका प्रबन्ध करते हैं।

परन्तु कुछ अधिक गम्भीरता से विचार करने वाले तो भावी जीवन का विचार कर उसका भी प्रबन्ध करने लगते हैं। यह सब मन और बुद्धि के प्रयोग के परिणामस्वरूप होता है। जो मनुष्य केवल बुद्धि का ही प्रयोग करते हैं वे प्रायः अगले जन्म के विषय में विचार करने में अशक्त रहते हैं। क्योंकि बुद्धि वर्तमान की समस्याओं पर ही अपना मत प्रकट कर सकती है। भूत और भविष्य पर विचार तो बुद्धि तब ही कर सकती है जब भूत का कुछ स्मरण हो। स्मरण रखना मन का कार्य है।

इस कारण जितनी जिस मनुष्य की स्मरण-शक्ति तीव्र होती है, उतना ही वह मनुष्य भूत के अनुभवों को स्मरण रखता है और उसकी बुद्धि उन स्मरण रखी हुई बातों पर विचार कर निष्कर्ष बताती है।

कभी-कभी यह देखा जाता है कि मूर्ख गँवार लोग नेता, धनवान, अथवा राजा बन जाते हैं। एक बुद्धिशील मनुष्य विचार करता है कि ऐसा क्यों होता है?

क्या वह घटनावश है अथवा जिसकी लाठी उसकी भैंस का नियम है? प्रायः नास्तिक विचार के लोग ऐसा ही कहते हैं। अन्यथा कुछ लोग ऐसे भी हैं जो विश्व में एक सर्वशक्तिमान् सत्ता तथा उसके न्याय में विश्वास रखते हैं। वे कहेंगे कि यह पूर्वजन्म के कर्मों का फल है।

दोनों प्रकार के लोग इस संसार में हैं। तीसरा कोई नहीं। वैदिक विज्ञान बताता है कि इसका कारण है परमात्मा का अटल नियम और जीवात्मा का बार-बार जन्म ले कर्म-फल को भोगना।

कठोपनिषद् में कहा है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।
न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति परं इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।।

कठ. 1-2-5, 6

अर्थात्—वे अविद्या के भीतर रहनेवाले (अविद्या अर्थात् सदा न विद्यमान रहनेवाला जगत्) अभिप्राय है कि इस जगत् में ही रहनेवाले, अपने को धीर और पण्डित माननेवाले मूढ़ मनुष्य अन्धे-से ले जाते हुए अन्धों के समान, अनेकों टेढ़ी-मेढ़ी चालों को चलते हुए भटकते रहते हैं।

धन के मोह से अन्धे हुए, प्रमादी बालबुद्धि, परलोक को न माननेवाले यह मानने लगते हैं कि यही लोक है और परलोक (इस लोक के अतिरिक्त) कुछ नहीं। बार-बार जन्म ले इसी संसार में आते और जाते हैं।

अतः वैदिक विज्ञान कहता है, दुष्कृतों को छोड़कर सुकृतों को करना चाहिए।

परलोक और इस लोक की भी व्याख्या की गई है। इस लोक से अभिप्राय इस पृथिवी पर प्राणी-जीवन से ही नहीं है, वरन् इस पृथिवी पर के प्राणी-जीवन जैसे यहाँ तथा अन्य नक्षत्रों पर, जहाँ कहीं भी हों, से है।

अन्तरिक्ष में असंख्य ग्रह हैं और यह असम्भव प्रतीत नहीं होता कि किसी अन्य ग्रह पर इसी प्रकार का जलवायु तथा ऊष्मा हो और वहाँ इसी प्रकार के प्राणी रहते हों। हम इस विषय में कुछ नहीं जानते। हाँ, महाभारत में एक संकेत इस प्रकार का मिलता है—

यस्य रश्मिसहस्रेषु शाखास्विव विहंगमाः।
वसन्त्याश्रित्य मुनयः संसिद्धा दैवतैः सह।।

(महा भा. 12-362-3)

अर्थात्—जैसे वृक्ष की शाखाओं पर बहुत-से पक्षी बसेरा लेते हैं, उसी प्रकार सूर्य की सहस्रों किरणों का आश्रय ले देवताओं सहित सिद्ध और मुनि निवास करते हैं।

इससे कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि जीवगण अन्तरिक्ष में भी भ्रमण करते हैं और वे सूर्य की रश्मियों के आश्रय (उनसे मार्गदर्शन पाते हुए) रहते हैं।

ऊपर हमने बताया है कि कर्म दो ही प्रकार के हैं—सुकृत अर्थात् अच्छे कर्म और दुष्कृत अर्थात् बुरे कर्म। किन कर्मों को अच्छे कर्म कहते हैं और किनको बुरे कर्म कहते हैं? यह इस पुस्तक का विषय नहीं है जो इनकी व्याख्या की जाए। परन्तु इस सृष्टि में अच्छी और घटिया जातियाँ तो हैं। ये अच्छे और बुरे कर्मों के करने से ही होती हैं।

जब हमने जीवात्मा को सुख, दुःख, इच्छा, द्वेषादि लक्षणों वाला मान लिया तो यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि ऐसा क्यों है? किस कारण एक जीवात्मा कुत्ते

में चली गई है और क्यों दूसरी आत्मा मनुष्य-योनि में आ गई है? इस प्रश्न के उत्तर में ही ब्रह्मसूत्र का रचयिता कहता है (3-1-11) कि कर्म दो ही प्रकार के हैं—अच्छे कर्म और बुरे कर्म। इनसे अच्छी और बुरी योनियाँ प्राप्त होती हैं।

अच्छी और बुरी योनियों से अभिप्राय है श्रेष्ठ, सुन्दर और सबल शरीरधारी तथा विकृत, कुरूप और अशक्त शरीरधारी योनियाँ।

इसी सम्बन्ध में ब्रह्मसूत्र में आगे कहा है—

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्।।

(ब्र. सू. 3-1-13)

नियन्त्रण वाले लोकों में (कर्म-फल) अनुभूय (भोगकर) दूसरे के अवरोह की गति देखी जाती है।

यह कहा है कि निम्न कोटि की योनियों को भोगकर जीव ऊँची-नीची योनियों में आते-जाते हैं। सूत्रकार का कहना है कि यह अकारण नहीं होता। इसमें कर्म ही कारण देखा जाता है। सुकृत द्वारा श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर योनियों में मनुष्य जाता है।

वैदिक विज्ञान यह बता रहा है कि प्राणियों में श्रेष्ठ अथवा निम्न कोटि की योनियाँ कर्मों से ही प्राप्त होती हैं। और कहा है—

अपि च सप्त।। (ब्र. सू. 3-1-15)

अर्थात्—और ये योनियाँ सात प्रकार की हैं।

योनियाँ तो अगणित हैं। यहाँ योनियों को सात श्रेणियों में बाँट दिया है। ये श्रेणियाँ उन योनियों के मन, उनकी बुद्धि और शरीर की श्रेष्ठता अथवा अश्रेष्ठता के विचार से की गई हैं। ये श्रेणियाँ हैं—

(1) रौरव, (2) महारौरव, (3) वह्नि, (4) वैतरणी, (5) कुम्भीपाक, (6) तामिस्र, (7) अन्धतामिस्र।

ये श्रेणियाँ संयमन वाली श्रेणियाँ कहाती हैं। इन श्रेणियों में कर्मफल भोगकर जब जीवात्मा निष्कलंक होकर निकलता है तो यह मनुष्य-योनि में आता है। मनुष्य-योनि नियन्त्रण से बाहर की योनि है। भगवद्गीता में कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते.... (भ. गी. 2-47)

अर्थात्—कर्म करना तेरा अधिकार है।

मनुष्य-योनि में आकर प्राणी कर्म करने में स्वतन्त्र हो जाता है। सूत्रकार ने कहा है कि वह संयमन से बाहर हो जाता है क्योंकि उसने कर्मफल भोग लिए होते हैं। तदनन्तर जैसे भी कर्म मनुष्य-योनि में करता है, जीवात्मा वैसी ही योनि में जाता है। निम्नतम योनि स्थावरों की है।

महाभारत के प्रमाण से स्पष्ट होता है कि सिद्ध मुनियों की योनियाँ मनुष्य से ऊपर की हैं। उनको योनि कहें अथवा कुछ अन्य कहें, यह तो उनके जन्म की कथा विदित होने पर ही बताया जा सकता है।

त्रयोदश अध्याय

मनुष्य की उपलब्धियाँ

यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य इस पृथिवी पर सर्वश्रेष्ठ जीव है। अन्य सब जीव मनुष्य से हीन गुण रखते हैं।

ऐसा क्यों है? यह इस कारण कि मनुष्य में कुछ विशेष अंग हैं जिनके कारण यह पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाले सब जन्तुओं से श्रेष्ठ सिद्ध हुआ है। ये अंग हैं मन, बुद्धि तथा वाणी।

मन और बुद्धि के विषय में हम पहले लिख चुके हैं। संक्षेप में, मन एक प्रकार का स्मृति-यन्त्र है और बुद्धि विचार करनेवाला यन्त्र है। ये दोनों यन्त्र मनुष्य के मस्तिष्क में विद्यमान होते हैं। ये मस्तिष्क के सफेद और पीले भाग नहीं हैं जैसा कि आज का वैज्ञानिक कहता है। ये दोनों यन्त्र अणु मात्र हैं, अर्थात् बहुत ही छोटे होते हैं।

सांख्याचार्य इनको प्रकृति के प्रथम परिणाम (महत्) का अंश मानता है। जब परमात्मा के तेज से प्रकृति परमाणु की अवस्था में आ जाती है, तब जो रूप प्रकृति का बनता है वह महत् कहा जाता है। उसका ही एक अणुमात्र मन और एक अणुमात्र अंश बुद्धि है। ये दोनों यन्त्र मस्तिष्क की उस गुहा के समीप अथवा उसमें ही उपस्थित होते हैं, जिसमें जीवात्मा का वास होता है।

मनुष्य की शिराओं (nerves) और मस्तिष्क के श्वेत-पीले अंश में शक्ति ही काम करती है। यह शक्ति भोजन से प्राप्त होती है। यह वही शक्ति है जो इन्द्रियों में काम करती है। इस शक्ति का दूसरा नाम प्राण है। परन्तु मन और बुद्धि प्राण से भिन्न हैं।

सांख्याचार्य मन के विषय में कहता है—

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः।। (सांख्य. 1-71)

महत् जिसे प्रकृति का आदि कार्य कहा जाता है, वह ही मन है।

मन और बुद्धि पृथिवी पर के अन्य जन्तुओं में भी होते हैं। परन्तु उनमें

वे उतने श्रेष्ठ नहीं होते, जितने श्रेष्ठ मनुष्य में होते हैं। इसके साथ ही मनुष्य ने इनको और अधिक श्रेष्ठ बनाने का उपाय पता कर लिया है।

मन बार-बार अभ्यास से श्रेष्ठ होता है। यह स्मृति-यन्त्र अभ्यास करने से उन्नत किया जा सकता है। किसी बालक को कोई मन्त्र अथवा कविता स्मरण कराने पर तब स्मरण होती है जब वह उसे बार-बार दोहराता है। फिर अधिक मन्त्र तथा कविताएँ स्मरण कराने से उसकी स्मरण शक्ति विकास पाती जाती है। कई लोग तो पुस्तकों की पुस्तकें ही स्मरण कर सकते हैं। इसी शक्ति का विकास इस दिशा में भी हो सकता है कि एक ही बार कहने अथवा सुनने मात्र से पाठ स्मरण हो जाए। इतर् जीवों में मन बहुत ही दुर्बल होता है और फिर जैसा भी है उसमें उन्नति नहीं हो सकती।

बुद्धि का विकास भी मनुष्य कर सकता है। इसका विकास मन की भाँति नहीं होता। इसके लिए दूसरा उपाय है। वह उपाय है, चिन्तन तथा योगाभ्यास। जितना मनुष्य किसी विषय पर चिन्तन करता है, उतना ही उसे बुद्धि के प्रयोग का ढंग आता जाता है। साथ ही उसका बुद्धि-यन्त्र उन्नत होता जाता है। एक विशेष प्रकार से चिन्तन करने को योगाभ्यास कहते हैं। भारतीय विज्ञान-शास्त्र में योगाभ्यास की विशेष महिमा है।

योगाभ्यास के आठ अंग हैं। प्रथम पाँच अंग मन, शरीर, इन्द्रियों और बुद्धि को निर्मल करने के लिए हैं। शरीर को स्वस्थ, मन को विकारों से रहित और बुद्धि को तीक्ष्ण करने के लिए यम, नियम, आसन, प्राणयाम और प्रत्याहार कहे गए हैं।

जब इनसे भूमि तैयार हो जाए, तब अगले तीन अंगों पर अभ्यास किया जाता है। वे अंग हैं धारणा, ध्यान और समाधि।

धारणा का अर्थ है–

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।। (योग. 3-1)

अर्थात्–किसी भी स्थान में चित्त ठहराना धारणा कहाता है। चित्त ठहराने का अभिप्राय है कि उस वस्तु अथवा स्थान अथवा समस्या को चित्त में स्पष्ट कर लेना जिसके विषय में विचार कर ज्ञान प्राप्त करना है। किसी विषय अथवा वस्तु को धारण करना (समझ लेना) धारणा है।

कुछ लोग योग दर्शन के उपर्युक्त सूत्र का यह भी अर्थ करते हैं कि किसी स्थान पर अपनी दृष्टि अथवा ध्यान लगाकर बैठे रहना धारणा है। यह धारणा का अभ्यास हो सकता है, परन्तु यहाँ किसी समस्या अथवा विषय के रहस्य को जानने की बात हो रही है। इस कारण ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में धारणा के वही अर्थ हैं जो ऊपर बताए हैं। उस विषय अथवा समस्या को अपने समक्ष स्पष्ट रूप में रख लेना, जिस विषय अथवा समस्या का ज्ञान प्राप्त

करना अभीष्ट हो, धारणा है।

अभ्यास के लिए भले ही शरीर के किसी अंग पर अथवा शरीर के बाहर किसी वस्तु पर ध्यान लगाया जा सकता है, परन्तु व्यवहार में उस समस्या अथवा वस्तु को ही अपने सम्मुख रखना धारणा कही जा सकती है, जिसका ज्ञान प्राप्त करना अभीष्ट है।

जब समस्या अथवा विषय का स्पष्ट चित्र मन में बन जाए, तब योग के सातवें अंग को व्यवहार में लाने का अवसर आ जाता है। सातवाँ अंग है ध्यान। इसके विषय में योग दर्शन में कहा है–

तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्।। (योग. 3-2)

(वह विषय अथवा समस्या, जिसकी धारणा मन में बनाई है) उसमें एक (उसी) का ही रह जाना ध्यान कहाता है।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि विचार योग्य विषय का मन में निश्चय कर लेने के उपरान्त मन से अन्य सब विचारों अथवा विषय, वस्तुओं और समस्याओं को निकालकर, केवल उसको ही मन में रहने देना, जिसके विषय में ज्ञान और निश्चय प्राप्त करना है, यह ध्यान है।

जब ये दोनों बातें हो जाएँ तो योग के आठवें अंग पर अभ्यास किया जा सकता है। इसे समाधि कहते हैं। योग दर्शन में कहा है–

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।। (योग. 3-3)

अर्थात्–उस अर्थ (विषय अथवा समस्या) की ही प्रतीति चित्त में रह जाए (जिसके विषय में ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा हो) और अपने-आपको भी भुला दिया जाए। बस केवल अभीष्ट विचार ही मन में रह जाए। इस अवस्था को समाधि कहते हैं। इसका बार-बार अभ्यास करने से वस्तु, विषय अथवा समस्या का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। समाधि के अभ्यास से बुद्धि अति उत्कृष्ट एवं तीक्ष्ण हो जाती है। इससे जटिल से जटिल समस्या अथवा विषय सुलझ जाता है और जो कुछ इन्द्रियों से भी नहीं जाना जा सकता, वह भी पता चल जाता है।

हम यह बता रहे हैं कि मनुष्य में मन और बुद्धि उत्कृष्ट होती है। ऐसे मनुष्य की स्मृति और विचार करने की शक्ति अत्युत्तम हो जाती है। मनुष्य का मन और बुद्धि इस प्रकार योग से उन्नत किए जा सकते हैं।

मन और बुद्धि के अतिरिक्त, मनुष्य में वाक्शक्ति एक अन्य विशेष उपलब्धि है। वाक्शक्ति का अभिप्राय वाक्यन्त्र और उसको प्रयोग करने का सामर्थ्य है। पशुओं में वाक्यन्त्र और उसको प्रयोग करने का सामर्थ्य अति हीन होता है।

मनुष्य के वाक्यन्त्र की विशेषता यह है कि यह ध्वनि को कई रूपों में निकाल सकता है। मनुष्य की यह विशेषता संगीत में विशेष रूप से प्रकट होती

है। इसका ध्वनियन्त्र (vocal chord) कई गतियों से कम्पन करता है जिससे उसके सम्पर्क में आनेवाली वायु में भी कम्पन उत्पन्न हो जाता है। हवा में भी उन गतियों से ही कम्पन उत्पन्न होता है जिसमें मनुष्य का ध्वनियन्त्र कम्पन करता है। इसको ध्वनि की प्रायिकता (frequency) कहते हैं। वायु के कम्पन में जब यह प्रायिकता बदल-बदलकर सामने आती है तो यह संगीत के स्वरों में सुनाई देती है। कोयल इत्यादि कुछ पक्षी भी एक-दो स्वर निकाल सकते हैं। परन्तु मनुष्य में इन ध्वनियों का बदल (variation) बहुत अधिक है।

संगीत में ध्वनियों की प्रायिकता बढ़ाते-बढ़ाते बहुत अधिक की जा सकती है।

मान लीजिए किसी के स्वर की प्रायकिता (frequency) 121 है तो यह देखा गया है कि इससे दुगुनी अर्थात् 242 प्रायिकता वाला स्वर पहले (121 प्रायिकता) वाला हो जाएगा। यदि पहले को षड्ज कहा जाए तो उससे दुगुनी प्रायकिता वाले स्वर को भी षड्ज ही कहेंगे। और फिर इससे दुगुने अर्थात् 484 प्रायकिता वाला स्वर भी षड्ज ही कहाएगा। कारण यह कि 121 प्रायकिता वाला स्वर और फिर 242 प्रायिकता वाला और फिर 484 प्रायिकता वाला स्वर और इससे भी दुगुनी प्रायिकता वाला स्वर सब एक ही समान कानों को सुनाई देते हैं। ये सब षड्ज ही कहाते हैं। एक षड्ज और दूसरे, उससे ऊपर के षड्ज के बीच की प्रायिकता को सप्तक कहा जाता है। यह इस कारण कि इन को सात स्वरों में बाँटा जाता है। इनके नाम भी रखे गए हैं। नाम इस प्रकार है—षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। निषाद के अगला स्वर पुनः षड्ज आ जाएगा, कारण यह कि उसकी प्रायिकता (frequency) ऋषभ से पहले के षड्ज से ठीक दुगुनी होगी।

इन सात स्वरों के बीच में पाँच अन्य स्वर कल्पित किए गए हैं। षड्ज और ऋषभ के बीच में कोमल ऋषभ है। इसी प्रकार ऋषभ और गन्धार के बीच में एक कोमल गान्धार निश्चय किया गया है, मध्यम और पञ्चम के भीतर एक तीव्र मध्यम स्वर माना जाता है। इसी प्रकार पञ्चम और धैवत के बीच एक और स्वर अष्ट धैवत तथा धैवत और निषाद के बीच एक अन्य स्वर कोमल निषाद कल्पित किए गए। इस प्रकार एक षड्ज और दूसरे के षड्ज बीच में बारह स्वर माने जाते हैं। भारतीय संगीत-पद्धति में एक षड्ज और दूसरे षड्ज के भीतर स्वरों के चौबीस विभाग किए गए हैं। तब इन स्वरों को श्रुतियाँ कहा जाता है।

मनुष्य-वाक्यन्त्र की श्रेष्ठता इसी बात में है कि वह इन चौबीस श्रुतियों को निकाल सकता है। यह भी अभ्यास से ही सम्भव है। यदि अभ्यास न किया जाए तो मानव-वाक्यन्त्र की कुशलता बहुत कम हो जाती है। इस पर भी यह

इतर् जीव-जन्तुओं से बहुत अधिक ही होती है।

इस वाक्यन्त्र की श्रेष्ठता के साथ ही मुख के अन्य अवयवों की बनावट भी ऐसी है कि ध्वनि के साथ दूसरे अंगों के प्रयोग से वर्ण उच्चारण होने लगते हैं। ध्वनि-उच्चारण मिलकर भाषा बनती है। दोनों का सहयोग मनुष्य का स्मृतियन्त्र, मन करता है। तब वर्ण, पद और वाक्य निर्माण होते हैं। वाक्यों के समूह को भाषा कहते हैं।

यह देखा गया है कि मनुष्य की निर्माण-आयु में यदि मनुष्य को कोई शिक्षा देनेवाला न हो तो वाक्-यन्त्र और मनुष्य के अन्य अवयव ठीक ढंग पर काम नहीं करते। तब इस क्षेत्र में वह पशु का पशु ही रह जाता है। मन, बुद्धि और मुख के अवयव को विकास देने की आवश्यकता होती है। बिना सिखाए वह सीख नहीं सकता।

जब कोई बालक किसी कारण से माता-पिता तथा समाज के संरक्षण और पथ-प्रदर्शन से वंचित हो जाए तो वह बालक वाक् यन्त्र और मुख के अवयव रखता हुआ भी कुछ नहीं सीखता। इसके कई उदाहरण मनोविज्ञान के ज्ञाताओं ने दिए हैं। एक उदाहरण का वर्णन हम नीचे दे रहे हैं।

...One of the most interesting of the feral cases involves two Hindu children who at the ages respectively of about eight and under two in 1920, were discovered in a wolf den. The younger child died within a few months of discovery, but the elder, Kamla, as she became named, survived untill 1929, and her history in human society has been carefully recorded. Kamla brought with her almost none of the traits that we associate with human behaviour. She could walk only on all fours, possessed no language, save wolf like growls, and was as shy of humans as was any other un-domesticated animal. Only as the result of the most careful and apparently sympathetic training was she taught rudimentary social habits....before her death she had slowly learned some simple speech, human eating and dressing habits and the like.[1]

अर्थ—समाज की संगत से वंचित रहने की एक अति रुचिकर घटना दो हिन्दू लड़कियों की है। एक लगभग आठ वर्ष की और दो वर्ष से भी कम आयु की थी, जब वे सन् 1920 में एक भेड़िये की गार में पाई गईं। छोटा बच्चा पाए जाने के कुछ ही महीने के उपरान्त मर गया, परन्तु बड़ी लड़की जिसका कमला नाम रखा गया था, 1929 तक जीवित रही। मनुष्य समाज में

1. Society : R.M. Maciver & Charles H. Page; Macmillan : 1962 p. 45

इसके जीवन का इतिहास लिखा गया है। कमला अपने साथ वैसे लक्षण लेकर नहीं आई जो मानव-व्यवहार जैसे कहे जा सकते हैं। यह चारों हाथ-पाँव के बल चलती थी। भेड़ियों की भान्ति गुर्राने के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा बोल नहीं सकती थी और मानवों से वैसे ही दूर हटती थी जैसे कोई पालतू जानवर हटता है। बहुत सावधानी और सहानुभूति से शिक्षा दिए जाने पर भी मरने तक बहुत कठिनाई से उसे प्रारम्भिक सामाजिक व्यवहार तथा कुछ कपड़े पहनने सिखाए जा सके थे।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य में अति श्रेष्ठ प्रकार की बुद्धि, मन और वाक्यन्त्र इत्यादि होने पर भी यह बिना किसी के सिखाए कुछ भी सीख नहीं सकता। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य इन यन्त्रों को यत्न से उन्नत कर सकता है। इतर् जीव ऐसा नहीं कर सकते। कुछ जन्तुओं, (उदाहरण के रूप में मधु-मक्खियों) में कुछ सामाजिकता पाई जाती है,'परन्तु उनका व्यवहार एक-दो बातों तक ही सीमित रहता है। यह भी उनको जन्म से ही मिलता है। उसमें वे उन्नति नहीं कर सकतीं।

उदाहरण के रूप में मधु-मक्खियाँ अपना छत्ता बनाना जानती हैं अथवा इकट्ठा रहना जानती हैं, परन्तु जो कुछ वे बनाती हैं अथवा जितना कुछ वे करना जानती हैं उससे अधिक वे नहीं कर सकतीं। यह योग्यता उनकी बुद्धि और मन में विकास न हो सकने के कारण है।

इन्हीं बातों को देखकर भारतीय विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि आदिमानवों को सबसे पहले सामान्य मानवों का-सा रहन-सहन का ज्ञान परमात्मा ने दिया है। इसके विषय में वेद में यह उल्लेख है कि सामान्य भाषा का ज्ञान भी परमात्मा ने ही दिया था। इस विषय में वेद में कहा है—

यद्वाग् वद्रन्त्याविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम।।
देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु।।

—ऋ. 8-100-10, 11

इन मन्त्रों का देवता वाक् है। अर्थात् वाणी के विषय में इन मन्त्रों को कहा गया है। इनका अर्थ है—

(यत् वाक् राष्ट्री) जो सामान्य जनों की वाणी है, वह (मन्द्रा) अति प्रसन्न करनेवाली (देवानां अविचेतनानि निषसाद) देवताओं को ज्ञान देनेवाली उनमें विराजती थी (चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि) चारों ओर दूध की भान्ति दुहाती है (स्विदस्याः परमम्) इसका उत्तम उत्पत्ति-स्थान (क्व) कहाँ है?

(देवीम्) दिव्य गुणों वाली (वाचम्) वाणी (देवाः) विद्वान् लोग (अजनयन्त)

उसे प्रकट करते हैं (विश्वरूपाः पशवो वदन्ति) अनेक रूपों में प्राणी इसे कहते हैं।

(सा नो मन्द्रेषम् ऊर्जं) वह शक्ति हमको सुखकारक होवे। (धेनुः दुहाना इषम् ऊर्जं) गाय के दुहे हुए के समान यह शक्ति देती है। (सुष्टुतैतु)। उत्तम रीति से कही गई प्राप्त हो।

इन मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि वह वाणी जो सामान्य मनुष्य बोलते हैं, ईश्वरीय अतीन्द्रिय शक्ति से उत्पन्न हुई है और फिर देवताओं से उच्चारित वह वाणी पृथिवी पर के विद्वानों ने सुनी और सब मनुष्यों को सिखाई।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि यह कब हुआ, कहाँ हुआ और कब तक होता रहा? ऊपर दिए मन्त्रों में तो कहा है कि विद्वान् लोगों ने गाय का दूध पिलाने की भान्ति सर्वसाधारण को पिलाई अर्थात् सिखाई। प्रश्न है कि देवता कब तक उच्चारण करते रहे?

इस प्रश्न का उत्तर वेद में ही दिया गया है—

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते।।
पुमां एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे।।
कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे।।

—ऋ. 10-130-1, 2, 3

अर्थात्—(यो यज्ञो) जो यज्ञ अर्थात् रचना का कार्य है। (विश्वतः तन्तुभिः) जब जगत् तन गया अर्थात् बन गया तब (देवकर्मेभिः एक शतम् आयतः) एक सौ एक वर्ष तक देवताओं के कर्म द्वारा कार्य चलता रहा। (पितरः) प्रजापति अर्थात् मन्वन्तरों को करनेवाली शक्तियाँ (अभिप्राय ब्रह्मा) (वयन्ति) बुनते अर्थात् बनाते हैं। (ततू) इस रचना-कार्य को। (प्र-वय-अप-वय) ऊपर और नीचे बनाते हैं।

(पुमान् एनं तनुत) परमात्मा इसका निर्माण करता है। (पुमान् उत् कृणत्ति) वह परम पुरुष ही रचना को समाप्त करता है। (नाके अधि वितते) अन्तरिक्ष में यह बनाया जा चुका है। (इमे मयूखा उ) किरणों की भान्ति। (सदः उप सेदुरूः) इस स्थान पर बना रही है (ओतवे) और बनाने के लिए। (तसराणि सामानि) तिरछी और समान रूप से चलती हुई।

(यत् विश्वेदेवाः) जब समस्त देवता। (देवम् अयजन्त) परमात्मा के यज्ञ अर्थात् रचना-कार्य में सहयोग देने लगे, तब (का प्रभा प्रतिमा आसीत्) उस यज्ञ का प्रमाण और रूप-रेखा क्या थी? अर्थात् किस रूप में और कितनी लम्बाई-चौड़ाई

में यह रचना-कार्य आरम्भ हुआ? (किम् निदानं आज्यं किम्) इसका प्रयोजन क्या था और इसमें प्रयोग हो रही सामग्री अर्थात् इसका उपादान कारण क्या था? (परिधिः क असीत्) इस कार्य का घेरा कितना बड़ा था? (छन्दः किम् आसीत्) छन्द क्या थे अर्थात् उच्चारण हो रहे पद क्या थे? (प्र उगं किम् उक्थं) उन छन्दों को किसने कहा था?

इन मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि यह रचना आरम्भ हुई तो एक सौ एक देववर्ष तक चलती रही (देववर्ष चतुर्युगी को कहते हैं)। तब देवता छन्द-उच्चारण करने लगे। वे छन्द परमात्मा की सहायता से शब्द उच्चारण करता है।

इन छन्दों का ही अगले मन्त्रों में (ऋ. 10-130-4, 5) वर्णन है। वह हम ऊपर बता चुके हैं। उन मन्त्रों में वर्णन है कि छन्द देवताओं के सहाय से उच्चरित हुए। उनका उच्चारण तरंगों में हुआ और ऋषियों ने उन तरंगों को समझा और उनका अर्थ मानवों को समझाया।

वेदमन्त्र (ऋ. 10-130-1) में कहा है कि रचना-कार्य एक सौ एक चतुर्युगियों तक चलता रहा। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार सृष्टि-रचना को हुए आज छः मन्वन्तर सत्ताईस चतुर्युगियाँ और अट्ठाइसवीं चतुर्युगी के 38,93,078 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

एक मन्वन्तर 71.43 चतुर्युगियों के बराबर होता है। अतः व्यतीत चतुर्युगियाँ हैं = (6 × 71.43) = 27 = 455.58 चतुर्युगियाँ और वर्तमान चतुर्युगी के 38,93,778 वर्ष। वेदमन्त्र के अनुसार रचना-कार्य एक सौ एक वर्ष तक चलता रहा। ऊपर के काल से इतना काल निकाल दिया जाए तो रचना काल समाप्त हुए हो गए = 1,42,61,05,600 + 38,93,078 वर्ष। यह काल है, जब छन्दत्रयी विद्या उच्चारण होने लगी थी।

इस पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या ये छन्द इस समय उच्चारण हो रहे हैं अथवा नहीं? इस विषय में आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द जी ने एक युक्ति दी है। वह यह कि क्योंकि वेद परमात्मा की वाणी है और परमात्मा सर्वज्ञ है इस कारण यदि आज के पैगम्बरों के इल्हाम परमात्मा के ही हैं तो वे पहले इल्हामों के विरोधी नहीं होने चाहिएँ। परमात्मा का ज्ञान परस्पर विरोधी नहीं हो सकता।

हमारा मत है कि जब तक देवता विद्यमान हैं, छन्दोच्चारण भी हो रहा है। यदि किसी को सुनाई नहीं देता तो यह ऐसे ही है जैसे अन्धे के सम्मुख सूर्य का प्रकाश है।

चतुर्दश अध्याय

भाषा और ज्ञान के विषय में पाश्चात्य मत

पाश्चात्य वैज्ञानिकों के भाषा-विषयक मत और ज्ञान-विज्ञान के विषय में मत की एक झलक यहाँ दिखा देना उचित है।

वर्तमान युग के एक समाजशास्त्री मनुष्य में व्यक्तित्व (self-hood) की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार करते हैं–

The Growth of Self : Study of the process in which the child develops the capacity for society furnishes us a second body of evidence of the fundamental unit-whole interrelationship. The emergence of the capacity for social life is an aspect of the growth of self-hood of personality. The child does not merely imitate the social usages of adults, as a parrot might pick up a language. He is certainly imitative, but in the process of imitation his own social nature is gradually revealed.[1]

अर्थ–व्यक्तित्व का विकास

उस प्रक्रिया का अध्ययन, जिससे एक बच्चा अपने में सामाजिकता की योग्यता को विकास देता है, एक अन्य साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि इकाई और समष्टि में परस्पर सम्बन्ध है। सामाजिक जीवन की योग्यता का आविर्भाव इस बात का एक अंग है जिससे व्यक्तित्व का और स्वगुणों का विकास होता है। एक बच्चा केवल तोते की भान्ति भाषा की नकल ही नहीं करता; वह नकल तो करता है, करते-करते उसका सामाजिक स्वभाव भी शनैः-शनैः प्रकट होने लगता है।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि एक बच्चा अपने चारों ओर होनेवाली बातों की नकल ही नहीं करता, वरन् उसमें अपने स्वभाव से कुछ वृद्धि भी करता है। इस वक्तव्य में मिथ्यात्व इस प्रकार है–बच्चे की सामाजिकता (social

1. Society : R.M. Maciver & C.H. Page ; Macmillan (1962) P. 46

life) क्या है? और फिर कहा है कि वह शनैः-शनैः प्रकट होती है। क्या यह अपने आस-पास घटती हुई बातों को ही, अपनी बाल-बुद्धि से जैसा समझता है वही प्रकट नहीं करने लगता? जो कुछ वह स्वयं अपने में प्रकट करता है किसी दूसरे की नकल ही तो नहीं कर रहा?

दूसरी बात यह है कि आदि मनुष्य, जिसका आविर्भाव निम्न कोटि के जन्तु से हुआ माना जाता है, किसकी नकल करके किस प्रकार मानवता को विकसित हुआ होगा? उसने तो विकास कर लिया और दूसरे जन्तु क्यों वैसे ही पशु बने रहे? वह क्या वस्तु है जो एक में तो उन्नत व्यवहार उत्पन्न कर देती है और दूसरे में कुछ भी नहीं करती? वह उसमें क्यों और कैसे आई? अमीबा तो करोड़ो वर्ष व्यतीत होने पर भी अमीबा ही रहा और उसके 'भाई-बन्धु' विकास पाते-पाते मनुष्य बन गए हैं?

केवल इतना कह देने से तो काम नहीं चलता कि नकल करते-करते कुछ नई बात करने लगा है। कहा है अपने में सामाजिकता के कारण। वह कहाँ से आ गई?

तनिक भाषा के इतिहास का अध्ययन करें तो सामाजिकता उभरी प्रतीत नहीं होती, वरन् मानव असामाजिकता और ह्रास की ओर जा रहा प्रतीत होता है।

भाषा का इतिहास पढ़ने से पता चलता है कि मनुष्य जो कुछ नकल कर सीखता है, उसमें कुछ अपनी ओर से जमा नहीं करता, वरन् अपने स्वभाववश कुछ भूलता जाता है और कुछ विकृत करता चला जाता है। व्यक्तित्व में वृद्धि होती तो दिखाई देती नहीं, वरन् ह्रास हो रहा स्पष्ट दिखाई देता है। भाषा का इतिहास हमारे कथन का भली-भान्ति समर्थन करेगा।

प्राचीनतम भाषा कौन-सी है? कहा जा सकता है कि निश्चय ही जिस भाषा में प्राचीनतम पुस्तक मिलती है, यह वैदिक भाषा है। भूमण्डल में वेद प्राचीनतम पुस्तक है। अतः वैदिक भाषा ही प्राचीनतम भाषा है। इस वैदिक भाषा के विषय में मैक्समूलर कहता है–

They have reduced the rich and powerful idiom of the poets of the Veda to the meagre and impure jargon of the modern sepoy.

(पं. भगवद्दत्त द्वारा भाषा का इतिहास,
तृ. संस्करण, पृ. 25 से उद्धृत)

अर्थ–उन (पीछे संस्कृत के लेखकों ने) वैदिक कवियों के अर्थयुक्त और सशक्त प्रयोगों को गँवार सिपाहियों के अनाप-शनाप में बदल दिया है।

संस्कृत का एक अन्य विद्वान् डब्ल्यु. जोन्स संस्कृत भाषा के विषय में इस प्रकार लिखता है–

The Sanskrit language, whatever be its antiquity, is of a wonderful structure; more perfect than the Greek, more copious than the Latin and more exquisitively refined than either.

—वही पृ. 24

अर्थ—संस्कृत भाषा कितनी भी प्राचीन मानी जाए, आश्चर्यजनक बनावट वाली है। यह ग्रीक भाषा से अधिक पूर्ण, लेटिन की अपेक्षा अधिक विस्तार वाली और दोनों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत है।

तनिक देखते जाइए, वैदिक संस्कृत से संस्कृत और संस्कृत से ग्रीक और लेटिन के मुकाबिले में अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषा।

अब देखिए एक मिस्टर वैण्ड्रियस अपनी पुस्तक भाषा के पृष्ठ 346-347 पर क्या लिखते हैं—

Certainly modern languages such as English and French rejoice in an extreme suppleness, ease and fixibility...but can we maintain that the classical tongues like Greek or Latin are inferior to it? ...It (Greek) is a language whose very essence is godlike...If we have once acquired the taste for it, all other languages seem insipid or harsh after it.... The outward form of the Greek language is in itself a delight to the soul...Never has a more beautiful instrument been fashioned to express human thought.

वही, पृ. 24

अर्थात्—निश्चय ही अंग्रेजी और फ्रांसीसी इत्यादि वर्तमान भाषाएँ बहुत कोमल, सरल और लचकदार हैं—पर क्या कोई कह सकता है कि ग्रीक तथा लेटिन सदृश भाषाएँ इनसे घटिया हैं? —ग्रीक भाषा का सत्त्व देवतुल्य है। ...यदि एक बार इसके प्रति रुचि हो जाए तो दूसरी सब भाषाएँ नीरस और कठोर लगेंगी। ग्रीक भाषा का बाह्य रूप अपने-आप में आत्मा का आनन्द है। मानव-विचार को व्यक्त करने के लिए इससे अधिक सुन्दर उपकरण कदापि नहीं घड़ा गया।

इन उद्धरणों को देने का प्रयोजन यह है कि कम-से-कम भाषा में मनुष्य ने पूर्वजों की नकल करते हुए उसमें वृद्धि नहीं की, वरन् कुछ भुलाया है।

इनसे आर. एम. मैकाइबर का यह कथन कि बच्चा केवल नकल ही नहीं करता वरन् कुछ उसमें वृद्धि भी करता है, सत्य नहीं।

इससे यह भी परिणाम निकलता है कि मनुष्य पशु से मानव नहीं बना, वरन् मानव से पशु बनता चला जा रहा है। यूरोप में और उसकी नकल करनेवाले देशों में यौन सम्बन्धी जो विचार बन रहे हैं, वे पूर्व से कुछ उन्नति करना नहीं

वरन् ह्रास की ओर जाना ही कहे जाएँगे।

इस कारण हम उस मत को ही ठीक मानते हैं जो वेद में बताया गया है कि परमात्मा ने भाषा (राष्ट्री) और छन्द (ज्ञान) आदि मनुष्य को दिए थे।

भाषा-विज्ञान का एक अन्य विद्वान् भाषा के विषय में लिखते हुए हमारे ही मत का समर्थन करता है।

जैस्पर्सन विकासवाद को स्वीकार करता है। इस पर भी अपनी पुस्तक 'Language' में पृ. 409 पर लिखता हैं–

We observe everywhere the tendency to make pronounciation more easy, so as to lesson the muscular effort; difficult combinations of sounds are discarded...Modern research has shown that the Proto-Aryan sound system was much more complicated than was imagined in the reconstruction of the middle of the nineteenth century.

–वही पृ. 23

अर्थ–उच्चारण को अधिक सरल करने की रुचि सर्वत्र रही है। साथ ही मुख की पेशियों के प्रयत्न को न्यून करने की। ध्वनियों के कष्टसाध्य योग त्यागे जाते रहे हैं। वर्तमान खोज ने बताया है पूर्व-आर्य ध्वनि-प्रकार अधिक क्लिष्ट था।

यह ठीक है कि कष्टप्रद ध्वनियाँ छोड़ दी गई हैं, परन्तु यह इस बात को प्रकट करता है कि मनुष्य के उन ध्वनियों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य में ह्रास हुआ है। यह न तो भाषा में उन्नति का सूचक है और न ही मनुष्य की उच्चारण-सामर्थ्य की उन्नति का।

यदि तो भाषा में परिवर्तन इस कारण स्वीकार किए गए होते कि इनसे वह अपने भावों को अधिक सरलता, स्पष्टता और सरसता से वर्णन कर सकता है तो यह भाषा में उन्नति का सूचक होता, परन्तु यदि ये परिवर्तन केवल सुगमता (बोलने में) के लिए किए गए हैं तो यह ह्रास का सूचक है।

हमारा यह मत है कि भाषा में जितने भी परिवर्तन हुए हैं वे भावों की स्पष्टता के विचार से नहीं किए गए, वरन् मनुष्य ने अपने उच्चारणादि में सुविधा के विचार से किए हैं।

उदाहरण के रूप में भाषा में परिवर्तन चार प्रकार के हुए हैं–

1. पदों की बनावट में;
2. पदों के अर्थों में;
3. शब्द-भण्डार में;
4. वाक्य-रचना में।

1. पदों की बनावट में अन्तर दो कारणों से हुए हैं। एक तो पसन्द के

कारण। उदाहरण के रूप में अखिल से निखिल अथवा विघ्न के स्थान पर निघ्न। इस प्रकार के परिवर्तन तो केवल रुचि ही प्रकट करते हैं। परन्तु पद होता है विभक्ति से युक्त। अनेक बार विभक्ति से रहित प्रयोग किया जाता है। समासों में विभक्ति को निकाल देना उद्देश्य होता है। कई बार तो एक ही विभक्ति को न दुहराने के निमित्त ऐसा किया जाता है और कई बार समय बचाने के लिए ऐसा किया जाता है।

इस प्रथा का आधार मात्र समय बचाना है। यह लेखक अथवा वक्ता अपनी सुगमता के लिए करता है, इसमें भावों की स्पष्टता के स्थान दुरूहता ही उत्पन्न होती है।

2. पदों के अर्थों में अन्तर भी दो कारणों से होता है। एक तो जब किसी नई वस्तु का पता चलता है तो उसका नाम उससे किसी मिलती-जुलती वस्तु में लेने का यत्न किया जाता है। यदि यह प्रक्रिया दो-तीन बार दुहराई जाए तो मूल अर्थ सर्वथा विस्मरण हो जाता है। उदाहरण के रूप में संस्कृत भाषा में एक शब्द है 'बभ्रु'। इस शब्द का मूलार्थ है भूरा रंग। क्योंकि भूरे रंग के घोड़े भी होते हैं और रीछ भी, इस कारण बभ्रु का अर्थ पहले हुआ वह देश जहाँ रीछ अधिक मिलते हैं। शिव और इन्द्र के घोड़े भूरे रंग के कहे जाते हैं। इस कारण बभ्रु का अर्थ इन्द्र और शिव भी हो गया। अंग्रेजी में भी बीयर (bear) शब्द इसी शब्द का अपभ्रंश है।

इस प्रकार के अर्थ-परिवर्तन इस कारण हुए क्योंकि मनुष्य की स्मृति दुर्बल पड़ गई और वह शब्द का मूलार्थ भूल गया।

3. शब्द-भण्डार में वृद्धि भी हुई है और कमी भी। इसमें भी कारण है मनुष्य की स्मृति में दुर्बलता। जब शब्द के मूलार्थ की विस्मृति हुई तो जो उस शब्द से सम्बन्धित शब्द बना, उसके लिए एक नया शब्द बन गया। इस प्रकार भाव बदलने से विभक्ति इत्यादि के लगाने से मूल शब्द से काम लेने के स्थान नए शब्द की कल्पना कर ली गई।

इसका एक उदाहरण अंग्रेजी का 'जीन' शब्द लिया जा सकता है। 'जीन' शब्द की व्युत्पत्ति है एक शब्द जैन (gen) से। इसका मूल है फ्रैंच भाषा का शब्द 'हमद' अर्थात् of gehine; अर्थ है torture (to make confession) परन्तु इस शब्द से बने जैनरेटर। यह भी कुछ बाहर लाता है। इससे बना जैण्डर। यह उत्पादन का सूचक है। फिर इसी से बना जैनरेशन। और जीन के अर्थ अब जीवित कोषाणु में केन्द्रिका में उपस्थित न्यूक्लियर तेजाब (R.N.A., D.N.A.) हो गए हैं।

शब्द के मूलार्थ को भूल जाने से कितने शब्दों की सृष्टि हुई है वह इस सूची से समझा जा सकता है। gen, gene, gender, generations, general,

generator, generic, genetics, genis इत्यादि।

शब्द-भण्डार में कभी भी स्मृति के दुर्बल हो जाने के कारण है। जब लोग किसी वस्तु का नाम भूल जाते हैं तो उसे किसी मिलती-जुलती वस्तु का नाम दे देते हैं। इस कारण कई-कई वस्तुओं का एक ही नाम पड़ जाता है। अंग्रेजी के कुछ विद्वानों ने एक बेसिक इंग्लिश निकाली है। वह इस कारण कि अंग्रेजी का बढ़ता हुआ शब्द-भण्डार स्मरण न हो सकने के कारण पूर्ण भाषा को अंग्रेजी के सात सौ शब्दों में सीमित करने का यत्न किया गया है। यह भी मनुष्य में किसी प्रकार के ह्रास का ही सूचक है।

4. वाक्यों में विकार भी इसी कारण होता है कि कम शब्दों से जब भाव प्रकट करने में कठिनाई अनुभव होती है तो वाक्यों में विकृति आती है। इससे व्याकरण के नियम बनते हैं। पहले भाषा मानव-असमर्थता के कारण टेढ़ी-मेढ़ी बनती है। तब वैय्याकरण नए-नए नियम बना, उस विकृति को नियमित करने लगते हैं।

समय व्यतीत होने पर भाषा मानव-इतिहास प्रस्तुत करती है।

इस विषय में भारतीय मत यह है कि 'वैदिक-पद-बहुला' लोक भाषा, ब्रह्मा और सप्तर्षि आदि द्वारा आदिमानव में व्यवहृत हुई। वही मानव की एकमात्र आदिभाषा थी। इसे प्राचीन आर्यों ने अतिभाषा भी कहा है। (पं. भगवद्दत—भाषा का इतिहास, पृ. 142)

इस अतिभाषा से ही सब भाषाएँ अपभ्रंश होकर बनी हैं। इस अपभ्रंश का कारण काल व्यतीत होने के साथ-साथ मानव-उपलब्धियों में ह्रास भी है।

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार ब्राह्म दिन का अन्त आरम्भ हो चुका है और अब काल व्यतीत होने के साथ ह्रास भी द्रुत गति से होगा।

परन्तु एक महान् प्रश्न है कि क्या हम इस ह्रास की गति को रोक सकते हैं? हम समझते हैं कि यह सम्भव है। कम-से-कम हम इस ह्रास की गति को धीमा तथा कम कष्टप्रद तो कर ही सकते हैं।

उपसंहार

सामान्य भाषा में ज्ञान का अर्थ है पदार्थ के विषय में यथार्थ जानकारी प्राप्त करना। वेद में जानने योग्य बातों के दो विभाग किए हैं। इस विषय में निम्न मन्त्र के अर्थ समझ लेने चाहिएँ–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय् सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।

–यजु. 40-14

अर्थ–जो विद्या और अविद्या, दोनों को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पारकर विद्या से अमृत (परमात्मा) को प्राप्त होता है।

यहाँ विद्या से अभिप्राय है सदैव विद्यमान रहनेवाले अर्थात् अनादि तत्त्वों का ज्ञान, और अविद्या से अभिप्राय है सदैव विद्यमान न रहनेवाले पदार्थों अर्थात् कार्य-जगत् के पदार्थों का ज्ञान। वेद के कथन का अर्थ है कि जगत् के बने हुए पदार्थों के ज्ञान के साथ उन अनादि तत्त्वों की भी जानकारी होनी चाहिए।

वेद इस संसार को मिथ्या नहीं मानता। वह यह तो मानता है कि जिस रूप में संसार के पदार्थ दिखाई देते हैं वह रूप सदा विद्यमान नहीं रहता। इसी कारण वेद में जगत् के ज्ञान को अविद्या कहा है।

वेद सब सत्य विद्याओं का ग्रन्थ है। जब यह कहा गया कि इस जगत् के पदार्थ मिथ्या नहीं तो उनका ज्ञान भी मिथ्या नहीं। इसी कारण जगत् की विद्या भी सत्य विद्याओं में है।

वेद के छः अंग और छः उपांग हैं। अंग तो सम्पूर्ण का भाग ही होता है। बिना अंगों के अंगी पूर्ण नहीं हो सकता। इस कारण वेद के छः अंग तो वेद में वर्णित विषय ही हैं। उप के अर्थ हैं समीप अर्थात् सहायक। ये वेद का विषय नहीं कहे जा सकते, परन्तु उन विषयों के समझने में सहायक होते हैं।

वेद के अंग अर्थात् वेद के मुख्य विषय ये हैं–शिक्षा, कल्प, व्याकरण,

निरुक्त, छन्द और ज्योतिष।

वेद के छः उपांग हैं—मीमांसा शास्त्र, वेदान्त शास्त्र, सांख्य शास्त्र, वैशेषिक ज्ञान, न्याय और योग। ये छहों शास्त्र वेद को समझने में सहायक होते हैं।

अंगों की शिक्षा में भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल इत्यादि विषय नहीं समझने चाहिएँ। वेद में शिक्षा का अभिप्राय है मनुष्य का इस संसार में रहते हुए व्यवहार का ज्ञान। यजुर्वेद इससे भरा पड़ा है। यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय का प्रथम मन्त्र है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।

—यजु. 40-1

अर्थ—इस चलायमान जगत् पर परमात्मा छाया हुआ है। (परमात्मा से ही यह बना है।) इस कारण इसका प्रयोग त्याग से (केवल आवश्यकता मात्र) ही करो। लालच मत करो। यह किसी (एक) का नहीं है।

अभिप्राय यह है कि यजुर्वेद में शिक्षा-अंग भरा पड़ा है। वेद का दूसरा अंग कल्प है, अर्थात् ब्रह्म दिन और रात्रि काल का वर्णन। एक मन्त्र (ऋ. 10-190-3) में शब्द है, 'यथापूर्वमकल्पयत्'। इसका अर्थ करते हुए सायण लिखता है—

तदेतत्सर्वं धाता विधाता यथापूर्वं पूर्वस्मिन् कल्पे अकल्पयत् सृष्ट्वान् तथैवागामिन्यपि कल्पे कल्पयिष्यतीत्यर्थः।।

अर्थात्—सो यह सब विविध प्रकार की सृष्टि रचनेवाले विधाता ने जैसे पूर्वकल्प में रचा था, वैसा ही इस कल्प में रचा है और वैसा ही भविष्य में रचेगा।

वर्तमान सृष्टि से पहले की सृष्टि को पूर्वकल्प कहा है। अतः वेद का कल्प से अभिप्राय वर्तमान सृष्टि की रचना, पालन और प्रलय होने के काल का नाम है। इसका वर्णन वेद का एक मुख्य विषय है।

कुछ विद्वान् कल्प का अर्थ पुराण करते हैं। हम ऐसा नहीं मानते। पुराण के सब अंग वेद का अंग नहीं हो सकते। पुराणों में सृष्टि रचना का वर्णन तो है, जो वेदों में भी है। परन्तु पुराणों में मानव-इतिहास भी आया है। मानव-इतिहास एकरस नहीं होता। इसी प्रकार वह धर्म, जो काल और प्ररिस्थिति से बदलता है, वह वेद का अंग नहीं हो सकता। मनुष्य वेद के विपरीत व्यवहार करता भी देखा जाता है। अतः मनुष्य, मनुष्य का क्रिया-कलाप वेद का अंग नहीं हो सकता।

इस कारण हमारा कहना है कि पुराण वेद का अंग नहीं हैं। वेद में वर्तमान कल्प का वर्णन, उसमें प्राकृतिक परिवर्तन ही कल्प का विषय है।

अतएव हमने वर्तमान पुस्तक 'सृष्टि-रचना' इसी कारण लिखी है कि हम वेद के एक विषय पर लिखना चाहते थे। यहाँ हम वेद के एक अंग कल्प का संक्षिप्त-सा वर्णन कर रहे हैं।

वेद के उपांग, जैसा कि हमने बताया है, दर्शन शास्त्र हैं। उनमें वेद में कही बातें ही युक्ति से प्रमाणित की गई हैं।

जहाँ तक सृष्टि-रचना का प्रश्न है, वेद में अनेक स्थानों पर इसका वर्णन मिलता है। अपनी इस पुस्तक में हमने अनेक स्थलों से उद्धरण दिए हैं। ऋ. 10-129 में रचना पूर्व का वर्णन है। ऋ. 10-130 में देवताओं की रचना के उपरानत वेदों का उच्चारण कैसे हुआ, इसका वर्णन है। साथ ही बताया है कि उस वेदोच्चारण को किसने मानवी भाषा में वर्णन किया। ऋ. 10-72 में देवताओं की उत्पत्ति और उनके कार्य का वर्णन है। अनेक स्थानों पर सृष्टि के भिन्न-भिन्न अंगों का वर्णन मिलता है।

हम यहाँ अथर्ववेद के कुछ मन्त्र दे रहे हैं। वह केवल यह दर्शाने के लिए कि सृष्टि-क्रम वेद में किस प्रकार वर्णन किया गया है। अथर्ववेद 10-7 सूक्त का देवता अर्थात् विषय, 'स्कम्भ ज्येष्ठ ब्रह्म' है। स्कम्भ का अर्थ है खम्भा अर्थात् आश्रयस्थान और ज्येष्ठ ब्रह्म का अर्थ सृष्टि-रचयिता ब्रह्मा है। ब्रह्मा कई हुए हैं। महाभारत में एक प्रसंग में छः ब्रह्माओं का वर्णन है। वहाँ कहा है–

व्यक्ताव्यक्तकराचिन्त्य क्षेमं पंथानमास्थितः।
विश्वभुक् सर्वभूतानामन्तरात्मन्नयोनिजः।
अहं प्रसादजस्तुभ्यं लोकधाम स्वयम्भुवः।।
त्वत्तो मे मानसं जन्म प्रथमं द्विजपूजितम्।
चाक्षुषं वै द्वितीयं मे जन्म चासीत् पुरातनम्।।
त्वत्प्रसादात् तु मे जन्म तृतीयं वाचिकं महत्।
त्वत्तः श्रवणजं चापि चतुर्थं जन्म मे विभो।।
नासिक्यं चापि मे जन्म त्वत्तः परममुच्यते।
अण्डजं चापि मे जन्म त्वत्तः षष्ठं विनिर्मितम्।।
इदं च सप्तमं जन्म पद्मजन्मेति वै प्रभो।
सर्गे सर्गे ह्यहं पुत्रस्तव त्रिगुणवर्जित।।

महाभा. (गोरखपुर) 12-347-38,40,41,42,43

अर्थात्–अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त जगत् को उत्पन्न करनेवाले हे परमात्मन्! आपका स्वरूप अचिन्त्य है। आप कल्याणमय मार्ग पर स्थित हैं। सबके पालक, आप सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तरात्मा, किसी योनि में उत्पन्न न होनेवाले, जगत् के आधार और स्वयम्भू हैं। मैं आपकी कृपा से उत्पन्न हुआ हूँ (पूर्ववृत्तान्त से ब्रह्मा कह रहा है)–

आपसे मेरा प्रथम बार जन्म मानस-जन्म कहा जाता है। वह द्विजों से पूजित था। तदनन्तर पूर्वकाल में आपके नेत्र से उत्पन्न हुआ। वह मेरा दूसरा जन्म था। तत्पश्चात् आपके कृपा-प्रसाद से मेरा तीसरा महत्त्वपूर्ण जन्म वाचक था। इसके उपरान्त मेरा चौथा जन्म आपके कान से हुआ।

मेरा पाँचवाँ जन्म आपकी नासिका से हुआ और छठा जन्म पद्म पर हुआ। ये छः ब्रह्माओं का जन्म सृष्टि-रचना में छः करवटें आने का प्रतीक है। परमात्मा का तेज ही ब्रह्मा कहा जा सकता है, जो पहले अरूप उत्पन्न हुआ। तदनन्तर एक-एक मन्वन्तर के उपरान्त सृष्टि-रचना में मोड़ आता रहा। जो शक्ति वह मोड़ सम्पन्न करती है, वह ब्रह्मा कहाती है। सृष्टि-रचना में अन्तिम करवट तब आयी जब पृथिवी पर प्राणी-रचना हुई।

इस ब्रह्मा का महाभारत में एक अन्य स्थान पर इस प्रकार वर्णन आया है–

मानसस्येह या मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते।।
कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रितः।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगतः प्रभुः।।

(महाभा. 12-182-37, 38)

अर्थात्–मानस देव जो ब्रह्मा की मूर्ति बताई जाती है, वह प्रकट हुई। उन ब्रह्माजी के आसन के लिए पृथिवी को ही कमल कहते हैं।

उस कमल की कर्णिका (डण्ठल) मेरु पर्वत है, जो आकाश में बहुत ऊँचे तक गया है। उस पर्वत के मध्य भाग में स्थित होकर ब्रह्माजी ने सब लोकों (सब जीव-जन्तुओं) की सृष्टि की।

परमात्मा की कर्तृत्व शक्ति का वर्णन मनुस्मृति में भी मिलता है। वहाँ कहा है–

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवासृजत्।।
तदण्डमवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः।।

(मनु. 1-8, 9)

अर्थात्–उस (परमात्मा) ने अपने शरीर (प्रकृति) से अनेक प्रकार की सृष्टि रचने की कामना की। सबसे पहले अपः की सृष्टि की। उस अपः में अपना (तेजरूपी) बीज छोड़ा। उस बीज द्वारा (अपः से) सहस्रों किरणों वाले (फूल) के समान तेज वाला सब लोकों का पितामह स्वयं ब्रह्मा उत्पन्न हुआ।

मनुस्मृति में एक अन्य श्लोक है–

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते।।

(मनु. 1-11)

अर्थात्—जो इस (जगत्) का अव्यक्त कारण है और नित्य है, वह जो सत् (अविनाशी) और असत् (नाशवान्) दोनों है, उससे उत्पन्न पुरुष, लोक में ब्रह्मा कहा जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जो सत् और असत् दोनों है, अर्थात् जो प्रकृति है, उत्पन्न होने वाला अर्थात् कार्य-जगत् ही ब्रह्मा कहा जाता है। इस कार्य-जगत् अर्थात् ब्रह्माण्ड को परम ब्रह्म भी कहा गया है।

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।

(श्वेत उ. 1-7)

अर्थात्—ऊपर (जो ब्रह्मचक्र) कहा गया है और जिसमें तीन अक्षर (परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति) स्थित हैं वह परम ब्रह्म ही तो है।

अतएव अथर्ववेद के सूक्त (10-7) में देवता 'स्कम्भ ज्येष्ठ ब्रह्म' का अभिप्राय ब्रह्माण्ड का आश्रयस्थान है। ज्येष्ठ ब्रह्म से अभिप्राय ब्रह्माण्ड है और स्कम्भ उसका आश्रयस्थान, परमात्मा ही है।

इस सृष्टि-रचना पुस्तक में हमने ज्येष्ठ ब्रह्म का ही वर्णन किया है। इस सूक्त में उसका वर्णन है।

इस सूक्त के प्रथम तीन मन्त्र इस प्रकार हैं—

कस्मिन्नंगे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्किन्नंग ऋतुमस्याध्याहितम्।
क्व व्रतं वय श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नंगे सत्यमस्य पतिष्ठितम्।।
कस्मादगाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मांदगात् पवते मातरिश्वा।
कस्मादंगाद् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा महस्कम्भस्य मिमानो अंगम्।।
कस्मिन्नंगे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नंगे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्।
कस्मिन्नंगे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नंगे तिष्ठत्युत्तरं दिवः।।

(अथर्व. 10-7, 1, 2, 3)

अर्थात्—उस (ज्येष्ठ ब्रह्म अर्थात् ब्रह्माण्ड) के किस अंग में तप स्थित है (तप से अभिप्राय गरमी ही है)? किस अंग में तप (निरन्तर यत्न करने का स्वभाव) उपस्थित है? किस अंग में ऋतु (अनादि प्राकृत्य नियम) हैं? कहाँ व्रत (संकल्प) है और कहाँ श्रद्धा (कार्य की सफलता में विश्वास) स्थित है? सत्य (अनादि तत्त्व) इसके किस अंग में रहता है?

अग्नि इसके किस अंग से दीप्त होता है? किस अंग से मातरिश्वा (गति-उत्पादक वायु) उत्पन्न होता है? इसके किस अंग से विधाता वाणी (वेदवाणी) बोलता है? वह इस महान् स्कम्भ (परमात्मा) के कौन-से अंग से यह वाणी बोल रहा है?

इसके कौन-से अंग में पृथिवी ठहरी हुई है? (यहाँ पृथिवी से अभिप्राय वे सब पार्थिव नक्षत्रादि हैं जो ब्रह्माण्ड में विचर रहे हैं। यहाँ भूमि का अर्थ वही है जो मनु. 1-13 में वर्णन किया है। वहाँ कहा है कि जब अण्डा फटा तो भूमि, अन्तरिक्ष और दिवं बने।) इसके किस अंग में अन्तरिक्ष स्थित है और किस अंग में दिवं से भी ऊपर जो है वह ठहरा हुआ है?

इन मन्त्रों में ब्रह्माण्ड के कुछ एक अंग गिनाकर प्रश्न किया गया है कि वे अंग किसके आश्रय हैं? अगले तीन मन्त्रों में ऊपर के तीन मन्त्रों में कही बात का प्रयोजन वर्णन किया है। यह कहने की वैदिक शैली है कि जब प्रश्न किए जाते हैं तो उत्तर उन प्रश्नों से स्पष्ट हो जाते हैं। जो कुछ ऊपर पूछा गया है उसका अभिप्राय यह है कि ज्येष्ठ ब्रह्म के ये सब पदार्थ परमात्मा के आश्रय ही हैं। वही उनका निर्माता है और वह ही उनको चला रहा है। अब अगले तीन मन्त्रों में इस सबका प्रयोजन वर्णन किया गया है। कहा है—

क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।।
क्वार्थमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः।
यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः स्कम्भं तम ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।।
क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।।

अथर्व. 10-7-4, 5, 6

किसको पाने की इच्छा से (क्या सम्पन्न करने के लिए) अग्नि दीप्त हो रही है? किसको पाने (सम्पन्न करने) के लिए मातरिश्वा बह रहा है? जहाँ पर अनेक बार-बार घूमनेवाले चल रहे हैं, उसे निश्चय कर तू स्कम्भ (आश्रयदाता परमात्मा) कह।

कहाँ से आधे महीने (पक्ष), कहाँ से महीने और वर्ष साथ-साथ बहते चले जा रहे हैं? ऋतुएँ कहाँ जा रही हैं और उनसे उपज जहाँ जा रही हैं, उसे तू निश्चय कर स्कम्भ ही कह।

कहाँ वे विरुद्ध स्वभाव वाली (विरुद्ध आवेशों charges वाली) विशेष रूपों वाली दिन-रात की भान्ति इकट्ठी हो जा रही हैं? जहाँ प्राप्त करने अपः को जा रही है (अपः से अभिप्राय अहंकार हैं जिनसे संसार के सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं) कौन है वह? निश्चय से कहो कि स्कम्भ है।

इन तीन वेदमन्त्रों का अभिप्राय यह है कि ज्येष्ठ ब्रह्म में अग्नि, मातरिश्वा और बार-बार घूमनेवाले नक्षत्र क्या सम्पन्न करने के लिए कार्य कर रहे हैं? किस प्रयोजन से पक्ष, महीने, वर्ष अर्थात् काल व्यतीत हो रहा है? ऋतुएँ और ऋतुओं में होनेवाली उपज किस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए बनी है? परस्पर

विरोधी भाव वाले परमाणुओं के गुण), परस्पर मिलते हुए क्या सम्पन्न करने जा रहे हैं? ये क्यों अपने से विपरीत रूप वाले पदार्थ बना रहे हैं? अपः किस कारण सृष्टि-रचना कार्य कर रही है? यह कहा है कि वे सब ज्येष्ठ ब्रह्म के अंग-प्रत्यंग इसके आश्रयस्थान स्कम्भ परमात्मा के यज्ञकार्य को ही सम्पन्न कर रहे हैं।

इसी प्रकार आगे कहा है—

यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद् बभूव।।
कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य।
एकं यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र।।

(अथर्व. 10-8, 9)

अर्थात्—वह जो अति ऊँचा है, जो अति नीचा है और मध्य में है, वह प्रजापति ब्रह्मा ने सब रूपवाला रचा है। कहाँ तक इस रचना-कार्य के लिए स्कम्भ ने प्रवेश किया (प्रकृति के साथ सम्पर्क बनाया) और कहाँ सम्पर्क नहीं किया?

भूत, वर्तमान और भविष्य काल में स्कम्भ (परमात्मा) ने एक सहस्र देव-वर्ष के लिए कार्य (रचना कार्य किया है।)

सहस्रधा का अर्थ है एक सहस्र प्रभार से। इससे यही स्पष्ट होता है कि एक जगत् (galaxy) एक सहस्र देव-वर्ष के लिए रचा गया है।

हमारा इन सब वेदमन्त्रों को यहाँ देने का प्रयोजन यह है कि सृष्टि-रचना का वृत्तान्त, जो हमने मुख्य पुस्तक में दिया है उसका वैसा ही वर्णन वेद में है।

अथर्ववेद में एक अन्य मन्त्र है—

शतं तेऽयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।

(अथर्व. 8-2-21)

अर्थात्—सौ-अयुत वर्षों के आगे दो, तीन और चार की संख्या लिखने से वर्तमान युग का मान पता चल जाएगा। अयुत दस सहस्र का होता है और सौ दस सहस्र का अभिप्राय दस लाख हुआ। दस लाख के सात बिन्दु लिखकर उनके आगे 2,3,4, लिखने से यह राशि बन जाती है 4,32,00,00,000। यह ब्रह्म दिन अर्थात् जगत् की आयु है।

हमारा यह मत है कि वेद में कल्प-विद्या का ज्ञान भरपूर है।

प्रमाणानामनुक्रमणिका

अ

अचाक्षुषाणामनुमानेन—सां. 1-60	12
अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्—वैशे. उ. 4-5	31
अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः—वैशे. द. 4-2-4	55
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः।।—ब्र. सू. 1-2-3	15
अन्तर उपपत्तेः।।—ब्र. सू. 1-2-13	25
अपि च सप्त।।—ब्र. सू. 3-1-15	106
अभिमानियव्यपदेशस्तु—ब्र. सू. 2-1-5	27
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः—कठ. 1-2-5	105
अविशेषाद्विशेषारम्भः।।—सांख्य. 3-1	49
अहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयम्—सां. 1-61	37
असि यमो अस्यादित्यो—ऋ. 1-163-3	37-58
अस्य वामस्य पलितस्य—ऋ. 1-164-1	18, 62
अक्षरमम्बरान्तधृतेः।।—ब्र. सू. 1-3-10	56
अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यम्—ऋ. 1-163-7	67
आत्मानं ते मनसारादजानामवो—ऋ.	67
आद्यहेतुता तद्द्वारा—सांख्य. 1-74	32
आनीदवातं स्वधया—ऋ. 10-129-2	24, 32
आसीदिदं तमोभूतम्—मनु. 1-5	33

इ

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःख—न्याय. 1-1-10	19
इतरपरामर्शात् स इति—ब्र. सू. 1-3-18	92
इदं च सप्तमं जन्म—म. भा. 12-347-43	123

इदं शरीरं कौन्तेय–भ. गी. 13-1 93
इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा–ऋ. 1-163-5 58

ई

ईशा वास्यमिदं सर्वम्–यजु. 40-1 21, 122

उ

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः–भ. गी. 15-17 93
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म–श्वे. उ. 1-7 125
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता–भ. गी. 13-22 95

क

कर्णिका तस्य पद्मस्य–म. भा. 12-182-38 124
कर्मण्येवाधिकारस्ते–भ. गी. 2-47 106
कस्मादंगाद् दीप्ते अग्निरस्य–अथर्व. 10-7-2 125
कस्मिन्नंगे तपो अस्याधि–अथर्व. 10-7-3 125
कस्मिन्नंगे तिष्ठति भूमिः–अथर्व. 10-7-3 125
कियता स्कम्भः प्र विवेश–अथर्व. 10-7-9 127
कुतस्तु खलु सोम्यैवम्–छा. उ. 6-2-2 31
कार्यकरण कर्तृत्वे हेतु–भ. गी. 13-20 95
कासीत्प्रमा प्रतिमा किम्–ऋ. 10-130-3 113
क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे–अथर्व. 10-7-6 126
क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो–अथर्व. 10-7-4 126
क्वार्धमासाः क्व यन्ति मासाः–अथर्व. 10-7-5 126
गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च–वैशे. द. 4-2-3 53
गुहां प्रविष्टावात्मानौ–ब्र. सू. 1-2-11 25, 90

ज

जन्माद्यस्य यतः–ब्र. सू. 1-1-2 10

त

तत्पुनः पृथिव्यादि कार्यद्रव्यम्–वैशे. द. 4-2-1 52
तत्पूर्वकत्वाद्वाचः–ब्रं. सू. 2-4-4 90
तत्प्राक्श्रुतेश्च–ब्र. सू. 2-4-3 89

तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः।। सां 1-88	11
तदण्डमभवद्धैमम्—मनु. 1-9	124
तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति—ब्र. सू. 3-1-1	64
तदेवार्थ मात्रनिर्भासम्—योग. 3-3	109
तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि—सां. 1-61	37
तम आसीत्तमसा—ऋ. 10-129-3	24, 32
तस्माच्छरीरस्य—सां. 3-2	63
तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्—योग. 3-2	109
त्वत्तो मे मानसं जन्म—म. भा. 12-347-40	123
तासां वायुः प्रथमागामी भवति—निरु. या. 10-1	52
तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन्—ऋ. 1-164-10	66
तुच्छ्येनाभ्वपिहितम्—ऋ. 10.129-3	24
तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानम्—वैशे. द. 4-1-9	51
त्वत्प्रसादात् तु मे जन्म—महाभा. 12-347-41	123

द

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।। योग. 3-1	108
द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थ—सां. 1-87	11
द्वाविमौ पुरुषौ लोके—भ. गी. 15-16	96
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया—ऋ. 2-164-20	18, 98

न

न साम्परायः प्रतिभाति—कठ. 1-2-6	105
न हि कश्चित्क्षणमपि—भ. गी. 3-5	102
नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञम्—माण्डूक्य. 7	87
नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः—सांख्य. 1-78	32
नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्—ऋ. 10-129-1	23
नासिक्यं चापि मे जन्म—म. भा. 12-347-42	123

प

परिच्छिन्नं न सर्वोपादानाम्—सांख्य. 1-76	32
पुमां एनं तनुत उत्कृणत्ति—ऋ. 10-130-2	113
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि—भ. गी. 13-21	95
पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वम्—सां. 3-8	95

प्रकृतिं पुरुषं चैव—भ. गी. 13-19 95
प्राणस्तथाऽनुगमात्—ब्र. सू. 1-1-28 25
प्राणाय नमो यस्य—अथर्व. 11-4-1 89

म

महदाख्यमाद्यं कार्यम्—सां. 1-71 107
मातापितृजं स्थूलं प्रायशः—सां. 3-7 65
माता पितरमृत आ बभाज—ऋ. 1-164-8 66
मानसस्येह या मूर्तिब्रह्मत्वम्—म. भा. 12-182-37 124

य

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यम्—मनु. 1-11 125
यत् परममवमं यच्च मध्यमम्—अथर्व. 10-7-8 127
यदक्रन्दः प्रथमं जायमान—ऋ. 17-163-1 57
यद्वाग् वदन्त्याविचेतनानि—ऋ. 8-100-10 112
यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र—ऋ. 1-163-2 57
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र—भ. गी. 3-9 103
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा—भ. गी. 3-7 103
यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्—भ. गी. 15-18 94
यस्य रश्मिसहस्रेषु—म. भा. 12-362-3 105
युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया—ऋ. 1-164-9 65
योनेः शरीरम्।।—ब्र. सू. 3-1-27 79
यो मामेवमसंमूढो—भ. ग. 15-19 94
यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत—ऋ. 10-130-1 113

र

रागविरागयोर्योगः।।—सांख्य. 2-9 34

ल

लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यम्—सां. 1-128 39

व

विद्यां चाविद्यां च—यजु. 40-14 121
विवक्षितगुणोपपत्तेश्च—सां. 1-2-2 15
विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरा—सां. 1-108 9

विशेषकार्येऽष्वपि जीवानाम्।।—सां. 1-97 94
विशेषणाच्च।।—ब्र. सू. 1-2-12 25
विश्वभुक् सर्वभूतानाम्—म. भा. 12-347-39 123
व्यक्ताव्यक्तकराचिन्त्य—म. भा. 12-347-38 123
व्यतिरेकानवस्थितेश्च।।—ब्र. सू. 2-2-4 16

श

शतं तेऽयुतं हायनान्द्वे—अथर्व. 8-2-21 127
शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो—चरक. 1-41 102

स

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था—सांख्य. 1-61 35
सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे—4-1-7 50
सदैव सोम्येदमग्र आसीत्—छा. उ. 6-2-1 31
सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च—ब्र. सू. 2-4-5 90
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्—ब्र. सू. 1-2-1 10. 15, 25
समानः प्रकृतेर्द्वयोः—सां. 1-69 34
सुकृतदुष्कृते एवेति—ब्र. स. 3-1-11 103
सिद्धरूपबोद्धृत्वाद् वाक्यार्थोपदेशः।।—सां. 1-98 94
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्—मनु. 1-8 124
सोक्ष्म्यात्तदनुपलब्धि—सां. 1-109 9
संख्या परिमाणानि पृथकत्वम्—वैशे. द. 4-1-11 52
संभोगप्राप्तिरिति—ब्र. सू. 1-2-8 26
संयमने त्वनुभूयेतरेषाम्—ब्र. सू. 3-1-13 106
संहत परार्थत्वात् पुरुषस्य—सां. 1-66 92
स्थूलात्पञ्चतन्मात्रस्य—सां. 1-62 50
स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्तांग—माण्डू. 4 100

क्ष, त्र, ज्ञ

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि—भ. गी. 13-2 93
त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि—ऋ. 1-163-4 37, 58
त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्—ब्र. सू. 3-1-2 64

उपन्यासकार गुरुदत्त

श्री गुरुदत्त का प्रथम उपन्यास 'स्वाधीनता के पथ पर' 1942 में प्रकाशित हुआ और इस प्रथम उपन्यास ने ही श्री गुरुदत्त को चोटी के उपन्यासकारों में ला बैठाया। कथावस्तु की दृष्टि से तथा रोचकता की दृष्टि से भी यह उपन्यास अन्यतम है।

श्री गुरुदत्त की ख्याति बढ़ती गई और एक सर्वेक्षण के अनुसार 1960-1970 के दशक के वह सर्वाधिक पढ़े जानेवाले उपन्यासकार थे।

श्री गुरुदत्त जी विज्ञान के विद्यार्थी होने से विश्लेषणात्मक बुद्धि रखते थे। इस पृष्ठभूमि पर उन्होंने वेदाध्ययन आरम्भ किया तो पाया वेदों में सृष्टि-रचना का इतिहास है तथा साथ ही अध्यात्म एवं जीवन-यापन सम्बन्धी ज्ञान भी भरा पड़ा है।

वेद ज्ञान पर भी श्री गुरुदत्त की रचनाएँ

वेद मन्त्रों के देवता	60.00
वेद और वैदिक काल	35.00
वेद प्रवेशिका-1	35.00
वेद प्रवेशिका-2	35.00
यजुर्वेद और गृहस्थ धर्म	35.00
सृष्टि-रचना	50.00
सायंस और वेद	35.00
वेदों में सोम	25.00
वेदों में इन्द्र	25.00
विश्वेदेवा	35.00
विज्ञान और विज्ञान	40.00

दर्शनशास्त्र

ब्रह्मसूत्र-1	100.00
ब्रह्मसूत्र-2	80.00
श्रीमद्भगवद्गीता (अध्ययन)	75.00
श्रीमद्भगवद्गीता (भाष्य)	75.00
सांख्य दर्शन (भाष्य)	135.00
न्याय दर्शन (भाष्य)	100.00
अद्वैत मीमांसा	25.00
हमारी सांस्कृतिक धरोहर	75.00

सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं विचारक श्री गुरुदत्त की गीता
की विवेचना में दो अनुपम रचनाएँ

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता

सरल सुबोध भाषा भाष्य	एक अध्ययन
मूल्य : 75.00	मूल्य : 75.00

जिस जाति को धरोहर में गीता का ज्ञान मिला हो, उस जाति के घटक आज मरने से भयभीत हों तो यह आश्चर्य की बात है। इसका मुख्य कारण यह है कि हम गीता को ऐसा ज्ञान मानते हैं जिसकी आवश्यकता वृद्धावस्था में मृत्यु के किनारे बैठे हुए पड़ती है।

वास्तव में गीता-ज्ञान मनुष्य को कर्म-क्षेत्र में उतरने के समय मिलना चाहिए। गीता मुख्यतया कर्मयोग का ज्ञान है।

भगवद्‌गीता के ज्ञान की शुद्ध विवेचना में लिखी ये रचनाएँ अनुपम हैं।

हिन्दी साहित्य सदन

30-पी, कनॉट सरकस (मद्रास होटल के नीचे),
नई दिल्ली-110001

भारतीय संस्कृति के उपासकों को
एक अनुपम उपहार

हमारी सांस्कृतिक धरोहर

प्रस्तोता योगेन्द्र दत्त

साहित्यकार श्री गुरुदत्त के भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले निबन्धों का एक ही खण्ड में संग्रह।

वेद, पुराण, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र, श्रीमद्भगवद्गीता, इतिहास, पुराण, मनुष्य, समाज, धर्म इत्यादि विषयों पर विश्लेषणात्मक तथा प्रमाणसहित एवं युक्तियुक्त विवेचना अत्यन्त ही सरल भाषा में।

पाश्चात्य विद्वानों (?) तथा उनका अनुकरण करनेवाले भारतीय लेखक, जो अपनी मिथ्या धारणाओं से समाज को भ्रमित तथा भ्रष्ट कर रहे हैं, उनका खण्डन करने के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का वास्तविक तथा उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करने का यह एक अनुपम प्रयास है।

यह रचना पाठकों के लिए, समाज के लिए तथा भारतीय संस्कृति के उपासकों के लिए प्रेरणाप्रद सिद्ध होगी।

डिमाई आकार में, बढ़िया कागज, सुन्दर छपाई।
मूल्य : 75.00 रुपये (पेपरबैक संस्करण)

हिन्दी साहित्य सदन

30-पी, (30/90), कनॉट सरकस (निकट शिवाजी स्टेडियम)
नई दिल्ली-110001

श्री गुरुदत्त

1894-1989 शिक्षा : एम. एस-सी.

प्रथम उपन्यास "स्वाधीनता के पथ पर" से ही ख्याति की सीढ़ियों पर जो चढ़ने लगे कि फिर रुके नहीं ।

विज्ञान की पृष्ठभूमि पर वेद, उपनिषद् दर्शन इत्यादि शास्त्रों का अध्ययन आरम्भ किया तो उनको ज्ञान का अथाह सागर देख उसी में रम गये ।

वेद, उपनिषद् तथा दर्शन शास्त्रों की विवेचना एवं अध्ययन अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत करना गुरुदत्त की ही विशेषता है ।

उपन्यासों में भी शास्त्रों का निचोड़ तो मिलता ही है, रोचकता के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है कि उनका कोई भी उपन्यास पढ़ना आरम्भ करने पर समाप्त किये बिना छोड़ा नहीं जा सकता ।